हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ

लेखक

- प्रभाकर माचवे
- डॉ० जगदीश गुप्त
- विजय चौहान
- नामवर सिंह
- राजनारायण बिसारिया

भूमिका

डॉ० रघुवंश

राजकमल

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रकाशक
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई

मूल्य दो रुपये

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

डॉ० रघुवंश

भूमिका

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते-होते (१९१८) आधुनिक हिन्दी-साहित्य के पूर्वार्द्ध का अन्त हो जाता है। आधुनिक साहित्य का उत्तर-काल वर्तमान युग है। इस काल तक देश में पूँजीवादी व्यवस्था कुछ अधिक निश्चित हो चली थी और इसकी उपज मध्यवर्ग की स्थिति भी स्पष्ट हो चुकी थी। द्विवेदी-युग की पुनरुत्थानवादी कविता में सामन्तयुगीन तथा पूँजीवादी आदर्शों की छाप है। इस कविता में एक ओर नियम, मर्यादा, परम्परा, भाग्य तथा धर्म के प्रति आस्था है तो साथ ही इसमें व्यक्तिवाद तथा मानवतावाद, भौतिकता तथा आध्यात्मवाद का प्रभाव भी मिलता है; पूँजीवादी आदर्शों—समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व का स्वर भी सुनाई पड़ने लगता है। पर वर्तमान युग के प्रारम्भ से स्थिति बदल चुकी थी। महायुद्ध के प्रभाव में देश औद्योगिक विकास की ओर बढ़ा था, पर इससे देश स्वतन्त्रता की ओर किंचित् भी बढ़ न सका था। इस परिस्थिति में मध्यवर्ग का व्यक्ति अपनी 'स्व' चेतना के प्रति जागरूक हो उठा था। वह देश में सबसे अधिक शिक्षित तथा सचेत वर्ग था। उसमें इस कारण स्वाभिमान की भावना विशेष थी। इस वर्ग ने पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्वतन्त्रता का आदर्श अपनाया, पर इसे देश की प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं तथा आदर्शों से लड़ना पड़ रहा था। महायुद्ध के विनाश का प्रभाव भी उसके मन पर पड़ा। अभी तक साहित्य में समाज का दृष्टिकोण प्रधान था; साहित्यकार की समस्या समाज और देश की समस्या थी। यह ठीक है कि उस समय तक समाज को केवल सुधार की दृष्टि से देखा गया था और देश के सम्बन्ध में राष्ट्रीय भावना भी स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर वर्तमान युग में यदि राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ है तो समाजवादी विचार-धारा को भी निश्चित आधार मिला है। परन्तु वर्तमान युग को प्रारम्भ तथा विकास में कवि का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रधान है। युग-युग से भारतीय कवि पर व्यक्तिगत संवेदनाओं को व्यक्त करने के क्षेत्र में प्रतिबन्ध रहा है; सामाजीकृत तथा साधारणीकृत की शर्तें उसके सामने रही थीं। आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में ही ये बन्धन ढीले पड़ने लगे थे, सीमाएँ मिटने लगी थीं। पर वर्तमान युग के कवि ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मुक्त उद्घोष किया। उसकी दृष्टि देश-व्यापी विभिन्न समस्याओं की ओर न रही हो ऐसा नहीं है, पर अपने को केन्द्र में रखकर वह सबके प्रति क्रियाशील हुआ है। स्वतन्त्रता के इस आह्वान में वर्तमान युग का कवि प्रारम्भ से विद्रोही रहा है। यह ज़रूर है कि व्यक्ति-केन्द्रित होने के कारण विद्रोह का स्वर सारे समाज को बदलकर नये समाज की स्थापना का न होकर समाज की प्राचीन रूढ़ियों से अपने को मुक्त करने का ही प्रधान है। यह उनके मन में स्पष्ट नहीं था कि 'कला कला के लिए' के समान 'स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता के लिए' का अर्थ कुछ नहीं होता। कवि प्राचीन परम्पराओं से विद्रोह कर सका, पर उसके सामने कोई नया समाज

अपनी नई परम्पराओं के साथ नहीं आ सका। परिणामस्वरूप अन्तर्मुखी होकर वह अधिकाधिक व्यक्तिवादी होता गया है। हाँ जिनके सामने किसी नये समाज का (निश्चित ही किसी विशिष्ट 'वाद' का ही नहीं) चित्र आ गया है उन्होंने इधर की वर्तमान कविता को नया स्वर भी दिया है। इस प्रकार वर्तमान कविता की प्रधान विशेषता व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता है।

साहित्य में इस व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य आन्दोलन को व्यापक रूप से स्वच्छन्दवादी (Romantic) आन्दोलन माना जा सकता है। इस सम्पूर्ण काव्य की व्यापक भावना के अन्तराल में उन्मुक्त रोमाण्टिक प्रवृत्ति का आभास मिलता है। रोमाण्टिक काव्य में व्यक्तित्व की प्रधानता स्वीकृत है क्योंकि व्यक्तिवाद के आधार, भाव-प्रवणता तथा कल्पना-शीलता इस काव्य में विशेष महत्त्व का स्थान रखते हैं। कवि न केवल विचार-सम्बन्धी रूढ़ि तथा परम्परा के विरुद्ध होता है, वरन् इस साहित्यिक प्रेरणा में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह रहता है। इस काव्य में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावना का समावेश होता है, साथ ही इसमें आन्तरिक संवेदनशीलता और अनुभूतियों की गम्भीर अभिव्यक्ति रहती है। इन समस्त दृष्टियों से वर्तमान युग की कविता का प्रारम्भ रोमाण्टिक आन्दोलन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस युग की कविता में जो अप्रत्याशित विकास और अनियमित मोड़ दिखाई पड़ते हैं, उन सबकी भूमिका आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में पड़ चुकी थी। भारतेन्दु-युग की कविता में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ, ऐसा माना जाता है, पर यदि उसकी मूल भावना पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाय कि इस युग में ही आगे के विद्रोही युग की भूमिका की नींव पड़ चुकी थी। यद्यपि इस युग की कविता में भाषा, भाव तथा शैली सभी कुछ एक प्रकार से प्राचीन परम्परा का है, पर यदि ध्यान दिया जाय तो नवचेतना का उद्‌बोधन इस युग के कवियों में पाया जाता है। ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था, प्राचीन छन्दों के स्थान पर लोक-प्रचलित छन्दों—जैसे कजली, बिरहा, रेखना तथा मलार आदि—का प्रयोग किया गया। इस काव्य में नवीन आदर्शों के प्रति आग्रह भी मिलता है। रीतिकालीन रूढ़िगत प्रेम के आदर्श के स्थान पर इस युग में प्रेम को अधिक स्वस्थ तथा उन्मुक्त वातावरण मिला है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा राष्ट्रीय भावना की भी अपने ढंग से अभिव्यक्ति हुई है, यद्यपि इस समय उनको आज के अर्थ में नहीं समझा जा सकता। इन कवियों में मस्ती तथा निर्द्वंद्वता है जो उनके कल्पनाशील तथा संवेदनशील होने की साक्षी है। वर्तमान परिस्थिति के प्रति असन्तोष, परम्परागत रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा सामाजिक बन्धन के प्रति क्षोभ इस युग में जन्म ले रहा था, जिस भूमिका पर रोमाण्टिक-काव्य विकसित होता है। परन्तु देश की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति देशी सामन्तवाद तथा विदेशी साम्राज्यवाद के दो किनारों से टकराकर आगे बढ़ रही थी। इस कारण इसका इतिहास यूरोप के प्रगति के इतिहास से भिन्न रहा है। इसी के प्रभाव से द्विवेदी-युग रोमाण्टिक-काव्य का स्वच्छन्द युग न होकर पुनरुत्थान की भावधारा को सामने लाया। सुधारवादी आन्दोलनों से प्रेरणा ग्रहण कर काव्य जीवन के व्यापक स्तर पर उतरने लगा। यह भावना केवल पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से विकसित हुई हो ऐसी बात नहीं है। यह काव्य जिस

मध्यवर्ग से सम्बन्धित है, वह अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों को अभिव्यक्ति का रूप दे रहा था। इसमें भी वर्तमान के प्रति बहुत बड़ा क्षोभ और असन्तोष है और रूढ़ि के प्रति विद्रोह की भावना भी है, पर वे कवि नवीन मूल्यों तथा आदर्शों की स्थापना के लिए गौरवपूर्ण अतीत की ओर मुड़ गए हैं। इस मोड़ के कारण साहित्य में रोमाण्टिक, उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द मनोवृत्ति दब गई है और उनके स्थान पर आदर्श, मर्यादा तथा नीतिमत्ता का आग्रह बढ़ गया है। पर इस युग के काव्य में शुद्ध रोमाण्टिक धारा भी रक्षित रही है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय आदि में भाषा-शैली के साथ-साथ जीवन तथा जगत् के प्रति रोमाण्टिक दृष्टिकोण मिलता है। परन्तु जिस प्रकार इस स्वस्थ और मुक्त रोमाण्टिक-काव्य को द्विवेदी-युग के आदर्शवाद तथा इतिवृत्तात्मकता के कारण पनपने का अवसर नहीं मिल सका, उसी प्रकार वर्तमान युग में भी परिस्थितियों के कारण इसको किंचित् भिन्न रूप मिल गया है। वैसे वर्तमान छायावादी युग कविता का रोमाण्टिक-युग स्वीकार किया जा सकता है, उसकी अधिकांश प्रवृत्तियाँ रोमाण्टिक-काव्य के समान हैं।

कहा गया है कि छायावादी काव्य को रोमाण्टिक युग की कविता के समान स्वीकार किया जा सकता है। यह आग्रह इसलिए भी है कि इस प्रकार विचार करने से इस कविता के सम्बन्ध में हमारा पक्षपात मिट सकता है और साथ ही अनेक पूर्वग्रहों का निराकरण भी हो जायगा। कहना चाहिए कि समस्त छायावादी कविता का आधार रोमाण्टिक भावना मान लेने से इस युग की साहित्यिक पीठिका अधिक स्पष्ट हो जाती है, काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन अधिक सरलता से हो सकता है। यह ठीक है कि युग की परिस्थितियों ने इस युग के काव्य को मुक्त रूप से रोमाण्टिक भावधारा के अनुकूल नहीं होने दिया है, पर अपनी मूल प्रवृत्ति के आधार पर वह इस भावधारा के अत्यन्त समीप ठहरता है। वास्तव में रोमाण्टिक आन्दोलन ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार किंचित् भिन्न रूप धारण कर लिया है। इन प्रतिक्रियात्मक शक्तियों की ओर ध्यान जाने से रोमाण्टिक आन्दोलन के एक भिन्न युग का स्मरण आ जाता है। मैंने अपनी 'प्रकृति और काव्य' नामक पुस्तक में हिन्दी मध्ययुग की काव्य-प्रवृत्तियों पर विचार करते हुए सिद्ध किया है कि 'इस युग के आरम्भ में काव्य स्वच्छन्दवादी प्रवृत्तियों से विकसित हुआ है, साथ ही उसमें कुछ प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील रही हैं और इन्होंने काव्य को पूर्णतः जीवन के उन्मुक्त धरातल पर नहीं आने दिया।' यही बात आंशिक रूप से वर्तमान युग के लिए भी सत्य है। हिन्दी मध्ययुग के रोमाण्टिक आन्दोलन के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा उस युग के काव्य में विरक्ति के प्रधान स्वर का होना है। सांसारिक विरक्ति भक्ति-काव्य की मूल प्रेरणा मानी जा सकती है, जब कि रोमाण्टिक मनोवृत्ति में जीवन के प्रति प्रबल आसक्ति का भाव होता है। मध्ययुग के काव्य में इस आन्दोलन की असफलता का कारण यदि आध्यात्मिक है तो वर्तमान युग में रोमाण्टिक काव्य को मुक्त रूप न मिल सकने का कारण सामाजिक-राजनीतिक माना जा सकता है। कहा गया है महायुद्ध के बाद औद्योगिक उन्नति हुई थी, देश में पूँजीवादी व्यवस्था का प्रवेश हो चुका था। पर विदेशी शासन में इस व्यवस्था को विकास का पूरा अवसर नहीं मिल सकता था। इस कारण मध्यवर्ग

के व्यक्ति के सामने स्वतन्त्रता का आकर्षण और सम्मोह तो आ चुका था, पर वह सब प्रकार से अपने को निरुपाय पा रहा था। औद्योगिक क्रान्ति के समय सामन्तवाद की ढहती हुई दीवारों पर खड़ा हुआ व्यक्ति, भ्रम ही सही पर वह अपने को स्वतन्त्र मानकर बन्धनों से मुक्त होने के लिए विद्रोह करता है। प्रारम्भ में यह रोमाण्टिक कवि स्वप्न-द्रष्टा होता है, कल्पना-जगत् में रहता है और अपनी दमित इच्छाओं को व्यक्त करता है। यह कविता भी वास्तव में अपने से पिछली कविता के प्रति विद्रोह करती है और इसमें संवेदनात्मक आवेश तथा ताज़गी रहती है। रोमाण्टिक युग की प्रारम्भिक कविता के व्यक्तिगत प्रेम तथा मनसपरक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में उल्लास तथा आवेश रहता है। पर आगे चलकर कवि का व्यक्तिवाद उसको अधिकाधिक अन्तमुखी कर देता है और उसके सामने से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मरीचिका ओझल होने लगती है। सामाजिक मर्यादाओं से अपने को मुक्त समझकर भी वह अपना कोई संतुलन स्थापित नहीं कर पाता और इस प्रकार समाज तथा बाह्य जगत् दोनों से असन्तुष्ट होकर वह अपने काल्पनिक लोक के स्वप्नों में लीन हो जाता है। पतनोन्मुखी रोमाण्टिक कवि में असन्तुलित अहंवाद के साथ मानसिक कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति अधिक होती है। उसमें रोमाण्टिक मुक्ति, उल्लास तथा आवेग के स्थान पर कुण्ठा, अवसाद तथा विरक्ति ही प्रधान हो जाती है। छायावादी युग की जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया गया है उनमें रोमाण्टिक आन्दोलन के साथ ही उसकी पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों का समावेश होना सम्भव हो गया। इस कारण छायावादी काव्य में दोनों ही प्रकार की रोमाण्टिक प्रवृत्तियों का ऐसा घोल-मेल हो गया है कि उसकी प्रमुख धारा में शुद्ध स्वच्छन्दवादी भावना को पहचानना कठिन है।

पतनोन्मुखी रोमाण्टिक काव्य का उदाहरण फ्रान्स के १९वीं शताब्दी के कवि बोदलेअर (Baudlaire) की कविता है। वह संक्रान्तिकाल का कवि है, जिसको रोमाण्टिक तथा प्रतीकवादियों के मध्य में माना जा सकता है। उसका प्रधान स्वर रोमाण्टिक है। उसके काव्य में भावनाओं और अनुभूतियों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है। उसके स्वर में गीतात्मकता भी है, पर उसके स्वर में जीवन की निराशा अधिक है। उसकी कविता आत्मा की अन्यमनस्कता, श्रान्ति, निराशा, आत्म-हत्या की इच्छा तथा सामान्य विरक्ति से भरी है। उसने इस रोमाण्टिक अवसाद, वेदना, दुःखप्रियता और मृत्यु-आह्लाद को अत्यधिक तीखी और लोमहर्षक किन्तु आकर्षक शैली में व्यक्त किया है। बोदलेअर (Baudlaire) एक टूटते हुए युग का प्रतिनिधि है जिसमें व्यक्ति अपने विश्वास को खो चुका था, जिसमें किसी आस्था के लिए स्थान नहीं रह गया था। परन्तु छायावादी युग की परिस्थिति न तो रोमाण्टिक आन्दोलन के प्रारम्भिक युग से पूर्णतः मिलती है और न पतनकालीन इस परिस्थिति के ही पूरी तरह समान है। यदि इस युग में साम्राज्यवादी बन्धनों के कारण रोमाण्टिक युग के आशा, उल्लास तथा विश्वास का वह रूप नहीं मिलता है, तो पतनकालीन निराशावादिता तथा आस्थाहीनता को भी इस युग के काव्य में उस सीमा तक स्थान नहीं मिला है। राजनीतिक तथा सामाजिक कारणों से इस युग का व्यक्तिवादी कवि निराश और कुण्ठित हुआ है पर उसने आस्था का सम्बल नहीं छोड़ा है। राजनीति के क्षेत्र में गाँधी जी ने आन्दोलनों की असफलता के बीच में भी जनता को

धार्मिक आस्था के बल पर निराश नहीं होने दिया था । इसी प्रकार इस युग के व्यक्तिवाद को आध्यात्मिकता से बहुत बल मिला है। राष्ट्रीयता के विकास में आध्यात्मिक जागरण का हाथ भी रहता है, यह इस बात से सिद्ध है कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द तथा योगी अरविन्द के आध्यात्मिक सन्देशों से बल मिला है। यद्यपि मैं श्री शम्भूनाथ सिंह की इस बात से सहमत हूँ कि 'इस युग की आध्यात्मिकता प्रधानतया एक दृष्टिकोण के रूप में थी जिसमें साधना का योग नहीं था; वह धार्मिक परम्परा और सुधारवाद के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आई थी। उसका लक्ष्य व्यक्ति की आत्मा को स्थूल सामाजिक नियन्त्रण से मुक्त करना था यद्यपि वह इस प्रतिक्रिया के प्रभाव में स्वयं भौतिकता का विरोध करने वाली हो गई है।' इसमें अन्तिम बात को मैं यों रखना चाहूँगा 'वह स्वयं भौतिकता का विरोध करने वाली जान पड़ने लगी,' क्योंकि छायावादी आध्यात्मिकता जिस प्रकार भ्रामक है उसी प्रकार उसमें भौतिकता की अस्वीकृति भी भ्रम-मात्र है। जो भी हो इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण ने इस युग की कविता को प्रभावित किया है। इससे एक ओर छायावादी काव्य प्रेम और सौन्दर्य के उन्मुक्त रोमाण्टिक काव्य से भिन्न रहा और दूसरी ओर अतिव्यक्तिवादी अवसाद, वेदना तथा दुःखप्रियता और मृत्यु-आह्लाद की पतनोन्मुखी रोमाण्टिक प्रवृत्तियों से भी बच सका। इस आध्यात्मिक भ्रम का आश्रय, तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण की चेतना के अनुकूल तो था ही, पर साथ ही उस समय की सामाजिक स्थिति से अपने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के दृष्टिकोण के संतुलन की रक्षा के लिए भी आवश्यक हो उठा। प्रमुख छायावादी कवियों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समाज-विरोधी स्वर दबा हुआ है। वास्तव में ये द्विवेदी-युग के नैतिक आदर्शों तथा गाँधी जी की राष्ट्रीयता के नैतिक आधार की खुलकर अवहेलना नहीं कर सके। इनसे अधिक स्पष्ट व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की माँग इनके बाद के कुछ कवियों में पाई जाती है। इसी-लिए ये कवि रोमाण्टिक प्रेम के अधिक निकट भी हैं। आध्यात्मिक रंग के उतरते ही कुछ वर्तमान कवियों में पतनोन्मुखी निराशा, वेदना तथा कभी-कभी मृत्यु-आह्लाद की भावना मिलने लगती है। पर नई कविता की विस्तृत धारा में यह भावना गौण ही रही है, क्योंकि हमारे समाज में शिथिलता, निष्क्रियता और स्वार्थपरता कितनी ही क्यों न बढ़ गई हो पर निर्माण के प्रति उसका विश्वास बना हुआ है।

छायावादी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों की व्याख्या करने के पूर्व इसमें एक ऐसी प्रवृत्ति के अभाव की बात कह देनी आवश्यक है जिसके कारण इस काव्य की समस्त रोमा-ण्टिक भावधारा प्रच्छन्न हो गई है। सामन्तयुगीन संस्कारवादी (Classical) काव्य के विरोध में जब रोमाण्टिक काव्य अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढ़ता है उस समय वह मूलतः व्यक्तिपरक होकर भी लोकगीतों की उन्मुक्त जन-भावनाओं से प्रेरणा ग्रहण करता है। संस्कारवादी (Classical) काव्य में (इसी प्रकार हिन्दी के रीति काव्य में) सामाजिक मर्यादाओं तथा नैतिक आदर्शों के साथ साहित्यिक अभिव्यक्ति की भी परम्परागत रूढ़ियाँ आ जाती हैं। रोमाण्टिक विद्रोह की कविता उन मर्यादाओं तथा आदर्शों के साथ काव्य-गत रूढ़ियों का विरोध करती है और अवसर जिस प्रकार यह काव्य मुक्त जीवन-दर्शन के लिए लोकगीतों की स्वच्छन्द भावधारा की ओर मुड़ता है, उसी प्रकार भाषा तथा शैली के

लिए उसकी जीवन्त परम्परा का आश्रय भी लेता है। इस प्रकार रोमांसवादी काव्य की प्रारम्भिक प्रवृत्ति जन-जीवन और काव्य में सम्बन्ध स्थापित करने की होती है। बाद में स्वातन्त्र्य की चेतना व्यक्ति-केन्द्रित होने के कारण यह काव्य आत्मगत होकर अधिकाधिक मनसपरक, कल्पनाप्रवण, स्वप्निल, आदर्शवादी तथा अभिव्यंजनात्मक होता जाता है। पहले ही कहा गया है कि द्विवेदी-युग के कुछ कवियों में स्वाभाविक तथा स्वस्थ रोमाण्टिक भावना विकसित हो रही थी जिसमें भाषा, शैली तथा भाव सभी रूपों में जन-जीवन तथा लोक-गीतों से प्रेरणा ग्रहण की गई थी। परन्तु छायावादी काव्य ने इस परम्परा को आगे नहीं बढ़ाया। छायावाद के आन्दोलन में रोमाण्टिक दृष्टि से सबसे बड़ी कमी यह थी कि इस काव्य ने जन-जीवन की भूमि प्रारम्भ से ही छोड़ दी है—क्या भाव, क्या भाषा और क्या छन्द-विधान की दृष्टि से। इस युग के जिन अन्तर्विरोधों का उल्लेख किया जा चुका है उनके अतिरिक्त एक यह भी है कि छायावादी काव्य अपनी प्रेरणाएँ इस दिशा में बहुत-कुछ विदेशी साहित्य से प्राप्त कर रहा था, जब कि सामाजिक भूमिका की दृष्टि से उसे लोक-जीवन की ओर मुड़ना चाहिए था। यहाँ यह जान लेना प्रासंगिक होगा कि इस समय तक यूरोप में रोमाण्टिक कविता के युग को समाप्त हुए लम्बा अरसा बीत चुका था। यह ठीक है कि छायावादी कवि यूरोप के रोमाण्टिक कवियों से अधिक प्रभावित हुए हैं, पर बाद के कवियों से नितान्त अपरिचित न थे। इसके अतिरिक्त इन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता से प्रभाव ग्रहण किया है जिसमें पच्छिम और पूरब के जीवन-दर्शन तथा सौन्दर्य-दृष्टि का समन्वय हुआ है। जन-सम्पर्कहीन रोमाण्टिक आन्दोलन होने के कारण छायावादी काव्य में प्रारम्भ से ही जीवन की अभिव्यक्ति अत्यन्त व्यक्तिवादी और बौद्धिक हो गई है और उनकी शैली लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक रही है। छायावादी गीति-भावना में लोक-गीतों के ताल और लय के स्थान पर वर्णों की स्वर-मैत्री तथा छन्दमयता प्रधान है। भाषा में सहज बोधगम्यता तथा प्रभावशीलता के स्थान पर लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता तथा प्रतीक-विधान विशेष है। वास्तव में उपर्युक्त अभाव के कारण छायावादी काव्य में रोमाण्टिक काव्य की ताज़गी, उन्मुक्तता, भावाकुलता, सीधे प्रभाव डालने की शक्ति तथा उल्लासपूर्ण उन्मेष की कमी है। इसी कारण यह काव्य कलावादी भी हो गया है। इसकी अन्य प्रवृत्तियाँ शैली और शिल्प-विधि में अन्तर्निहित हो गई हैं। इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद के आन्दोलन को शैलीगत स्वीकार किया है। यह भ्रम इसी कलावादी प्रवृत्ति के कारण हुआ है।

छायावाद की पहली प्रवृत्ति उसका व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है जो रोमाण्टिक कविता की आधार-भूमि है। छायावाद में पिछले युगों की नितान्त वस्तुपरकता तथा विषय की प्रधानता के प्रति गहरा विद्रोह छिपा है और अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति के लिए खुला हुआ ऐलान है। जैसा कहा गया है, इस प्रतिक्रिया में उसकी अपनी वैयक्तिकता इतनी अन्तर्मुखी हो गई कि कवि वस्तु-सत्य की नितान्त अवहेलना करके सूक्ष्म भावात्मक स्वप्नों, आशा के वायवी रंगीन चित्रों तथा कल्पना की चित्र-विचित्र घाटियों में रमता रहा। साधारण जीवन और जगत् से सम्बन्ध न होने के कारण इन कवियों की आत्माभिव्यक्ति में व्यक्तिगत जीवन की सुख-दुःखमयी संवेदनाओं, आशा-निराशा के अन्तर्द्वन्द्वों का रूप

बहुत कम आ सका है। बाद में जिन कवियों में प्रेम का मुक्त रूप है और जिन्हें आध्यात्मिक आड़ नहीं चाहिए थी उनमें यह रूप अवश्य आ सका है। परन्तु प्रमुख छायावादी कवियों ने समस्त जगत् तथा प्रकृति को अपनी भावना तथा कल्पना के रंगों में देखा है और उसी रूप में उन्हें चित्रित किया है। इस काव्य में भाव-जगत् के रंगों का सौन्दर्य है; उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छायातप (Shade) को चित्रमय करने का प्रयास किया गया है। परन्तु वस्तु-जगत् की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाली स्वस्थ संवेदनाओं का रूप इन छायाओं में कहीं दिखाई नहीं देता। इस कारण इस काव्य में भावात्मक तथा कल्पनात्मक सौन्दर्य है पर शक्ति का नितान्त अभाव है। रोमाण्टिक काव्य की प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति छायावाद में लगभग समान रूप में पाई जाती है। रोमाण्टिक प्रेम उन्मुक्त प्रेम है, साथ ही आदर्शोन्मुखी भी। प्रेम करने का सबको समान अधिकार है। समाज की प्राचीन मर्यादाएँ उसके मार्ग में बाधक होती हैं, इस कारण उनसे मुक्त होना है। छायावाद में भी प्रेम का बहुत-कुछ ऐसा रूप है। मर्यादावादी नैतिकता की बाधा के कारण इस युग के काव्य में प्रेम की वासना कुण्ठित और दमित रह गई है; इस कारण कुंठा तथा निराशा का स्वर सुनाई देता है। रोमाण्टिक दृष्टि से सौन्दर्य मनसपरक है वस्तुपरक नहीं। छायावादी भी सौन्दर्य को मनस-परक स्वीकार करते हैं। वास्तव में व्यक्तिवादी भावना के कारण सौन्दर्य तथा प्रेम का यह रूप अतीन्द्रिय तथा भाव-प्रधान था। रोमाण्टिक काव्य के समान छायावाद में मानवतावाद तथा प्रकृति-प्रेम का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। सौन्दर्य तथा प्रकृति के आकर्षण के मूल में जिज्ञासा, विस्मय आदि भावनाएँ भी हैं। अत्यधिक आत्म-केन्द्रित होने के कारण प्रेम के प्रति कवि मानसिक सहानुभूति-मात्र प्रकट करता है, उसमें उसके लिए कोई सक्रिय आकर्षण नहीं जान पड़ता। प्रकृति के प्रति आत्मीयता, सहानुभूति आदि की भावनाएँ बहुत कम व्यक्त हुई हैं। छायावादी कवि ने यद्यपि रोमाण्टिक कवि के समान प्रकृति के भयानक तथा कोमल दोनों रूपों में सौन्दर्य तथा आकर्षण पाया है; पर छायावादी कवि में आत्मीय सम्बन्ध की भावना के स्थान पर बौद्धिक सहानुभूति ही विशेष है। कभी कवि ने प्रकृति पर अपनी मानसिक स्थितियों संवेदनाओं तथा भावनाओं का आरोप किया है और कभी अपने मन की विभिन्न स्थितियों के सूक्ष्म सौन्दर्यमय वर्णन के लिए प्रकृति की स्थिति-परिस्थितियों को चुन लिया है। वैसे कवि ने अपने व्यक्तित्व का प्रकृति पर आरोप किया है और प्रकृति में स्वतन्त्र चेतना तथा सत्ता को भी स्वीकार किया है। इस दृष्टि से ये कवि सर्वात्मवादी (Pantheist) है जिसके मूल में प्रकृतिवादी सौन्दर्योपासना है। प्रकृतिवादी रोमाण्टिक प्रकृति के फैले हुए सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उसके रूप और गतिशीलता पर मुग्ध होता है। इस माध्यम से वह प्रकृति में किसी अज्ञात व्यापक चेतना का आभास पाता है। छायावादी कवियों में, पन्त की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में, इस प्रकार सौन्दर्य तथा आकर्षण है। पर व्यापक रूप से इन कवियों ने मुक्तभाव से प्रकृति से सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया। इन्होंने प्रकृति को अपनी मानसिक छवियों के सौन्दर्य-बोध के रूप में लिया है।

पीछे जिस आध्यात्मिक भ्रम का निर्देश किया गया है उस पर यहाँ किंचित् विस्तार से विचार कर लेना चाहिए, क्योंकि इसके कारण छायावादी कविता में रहस्यवाद की

व्याख्या की जाती रही है। इस भ्रम के सामाजिक कारण का उल्लेख किया गया है। तत्कालीन देश के आध्यात्मिक आन्दोलन की बात भी कही गई है। इसके अतिरिक्त इस देश में आध्यात्मिक परम्पराओं का सदा गहरा प्रभाव रहा है। इस कारण इस युग के कवियों को आध्यात्मिक जीवन तथा परम्पराओं का ज्ञान था, यह स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं है। पर रहस्यात्मक अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के लिए आध्यात्मिक जीवन से बौद्धिक परिचय-मात्र पर्याप्त नहीं है। उसके लिए आवश्यक है कि इसमें जीवन (आध्यात्मिक) यापन किया जाय, इसमें रहकर अनुभव प्राप्त किया जाय। इसी आध्यात्मिक जीवन के अनुभवों, उसकी मार्मिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति रहस्यवाद है। इस अलौकिक जीवन और उसके साक्षात्कार का अनुभव आधुनिक रहस्यवादी कहलाने वाले कवियों में खोजना व्यर्थ है। परन्तु इनकी कविता में जो रहस्याभास है उसके लिए पर्याप्त आधार है। वह केवल आरोपित व्याख्या-मात्र नहीं है। समुचित व्याख्या और विश्लेषण करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन रहस्याभिव्यक्ति तथा आधुनिक रहस्याभास कविता में क्या अन्तर है। पर दोनों में समानता की ऐसी सीमा-रेखाएँ भी हैं जिनसे यह भ्रम और आभास सम्भव हो सका है। साधना का आध्यात्मिक जीवन अपने-आप में पूर्ण है, उस स्तर तक उठने वाले व्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। पर जब इस जीवन की अभिव्यक्ति साधक करता है तो वह रहस्यात्मक होती है। लेकिन साधक जिस भाषा और व्यंजना का आश्रय इस अभिव्यक्ति में लेता है वह लौकिक है, सादृश्य तथा विभेद के आधार पर ही स्थित है। इस कारण साधक को एक ओर लौकिक भावनाओं का ही किसी-न-किसी रूप में आश्रय लेना पड़ता है और दूसरी ओर काव्यात्मक प्रतीकों का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। लौकिक जीवन को अलौकिक स्तर तक पहुँचाने में तथा काव्यात्मक प्रतीकों से आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण कराने के लिए रहस्यवादी अभिव्यक्ति अधिकाधिक सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, अभ्यन्तरित तथा व्यापक आधार प्राप्त करती है। इसके विपरीत छायावादी कवियों ने भिन्न कारणों से (जिनका उल्लेख किया गया है) अपनी वैयक्तिक अनुभूति, संवेदना तथा भावना को सूक्ष्म तथा अवैयक्तिक रूप में व्यक्त किया है। उनमें लौकिक प्रेम का आवेग है, सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है तथा जीवन-जगत् के प्रति सहज जिज्ञासा है। लेकिन उन्होंने अपने आवेग तथा आकर्षण को मानसिक प्रभाव तक सीमित रखा है, अपनी जिज्ञासा को व्यापक आधार प्रदान किया है। आलम्बन के सूक्ष्म तथा अशरीर होने के कारण उनमें प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी अभिव्यक्तियाँ रहस्यात्मक स्तर की हो गई हैं, इनकी जीवन-जगत्-सम्बन्धी व्यापक जिज्ञासाएँ दार्शनिक कोटि में आ जाती हैं और इनका प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण 'स्व' के आरोप की पृष्ठभूमि में सर्वात्मवादी हो उठा है। छायावादी शैली की लाक्षणिकता, प्रतीक-पद्धति तथा अप्रस्तुत-योजना में सौन्दर्य-बोध को कल्पना के सूक्ष्म आधार पर ग्रहण किया गया है और इससे इस अभिव्यक्ति का रूप रहस्यवादी भावाभिव्यक्ति के निकट पहुँच गया है। बाद में इस भ्रम से आकर्षित होकर कुछ कवियों ने अपनी छायावादी कविता को रहस्यात्मक भूमिका प्रदान करने का सचेष्ट प्रयास भी किया है। बौद्ध-दुःखवाद, आनन्द-मूलक अद्वैतवाद (शैवागमों का) तथा सूफी और सन्तों के प्रेममूलक अद्वैतवाद आदि का

आधार प्रस्तुत किया गया। पर इस बौद्धिक प्रेषणीयता में रहस्यात्मक स्तर का आत्मिक आन्दोलन और भावावेश नहीं है। प्रतीकों को जुटाने तथा व्यक्तिगत प्रेम आदि भावना को निरवैयक्तिक आधार प्रदान करने से इस काव्य में रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का आभास अवश्य आ गया है। पर इस काव्य में आत्मोत्सर्ग की भावना का नितान्त अभाव है, क्योंकि मूलतः छायावादी कवि अहंवादी है। और इस 'अहं' की भावना के रहते आत्मोत्सर्ग सम्भव नहीं और बिना आत्मोत्सर्ग के (अहं के पूर्ण विलय के) आध्यात्मिक जीवन के मिलन-सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार आधुनिक छायावादी कविता के रहस्याभास को प्राचीन साधनात्मक रहस्यवाद मानना भ्रामक है और ऐसा मानना कि इससे इस कविता का महत्व बढ़ता है, असंगत है।

छायावाद की यह स्थिति बहुत दिनों तक सम्भव नहीं थी। जीवन की अस्वीकृतियों को गौरवान्वित करके, मानसिक कुण्ठाओं को छिपाकर कल्पनालोक के छायाभास और रहस्याभास-वैभव में अपने-आपको भुलाए रहना अधिक सम्भव नहीं था और सामाजिक-भावनाओं के लिए अज्ञात अशरीरी आलम्बन का रहस्यात्मक आधार भी अधिक टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सका। परिणामस्वरूप आज के काव्य में एक नया मोड़ स्वाभाविक था। इस नये काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि एक यह काव्य भाव-जगत् के काल्पनिक कुहासे से निकलकर जीवन की वास्तविकता तथा यथार्थ की ओर बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। कम-से-कम नवीन यथार्थवादी दृष्टि से आज का कवि जीवन की वास्तविकता की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा है। इस नवीन युग की कविता में सर्वत्र न एक-सी मान्यताएँ हैं और न समान प्रकार की अभिव्यक्ति। पर अपनी समस्त विभिन्नताओं के बावजूद यथार्थ का आग्रह उसकी सामान्य विशेषता मानी जा सकती है। व्यापक रूप से तीन परम्पराओं के दर्शन होते हैं, जिनमें यह आधुनिक कविता विकसित हुई है। इन तीनों ने एक-दूसरे से प्रभाव ग्रहण किये हैं। पहले ही कहा गया है कि छायावाद में पतनोन्मुखी रोमांटिक काव्य की मनोवृत्ति थी। आगे चलकर शैली तथा सौन्दर्य-बोध के क्षेत्र में यह काव्य अतिवैयक्तिक होता गया और इसको प्रयोगशील अथवा प्रयोगवादी काव्य की संज्ञा जाने-अनजाने दी जाती है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यह अति-वैयक्तिकता छायावादी सूक्ष्म काल्पनिकता के स्थान पर यथार्थ पर आधारित है। सामाजिक भावना के विकास के साथ इस युग के काव्य ने दो प्रभाव ग्रहण किये हैं और उनके अनुसार उनका दृष्टिकोण भिन्न हो गया है। एक कवियों का ऐसा वर्ग सामने आता है जो साम्यवादियों की राजनीति से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। उनके सामने मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उसकी समाजवादी व्याख्या रही है। वास्तव में अपने देश की स्थिति यूरोप की स्थिति से भिन्न है। इसके अतिरिक्त साम्यवाद के मूल स्थान रूस में भी साहित्य के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदलता रहा है। पर यहाँ की प्रगतिवादी कविता 'कुत्सित समाज-शास्त्री आलोचकों' के प्रभाव से वर्ग संघर्ष तथा सामाजिक क्रान्ति का अयथार्थ स्वर भरती रही है। अधिकतर प्रगतिवादी कवि अपने देश के सामाजिक यथार्थ से अपरिचित रहकर रूस तथा इधर चीन की सामाजिक क्रान्ति के गीत गाते रहे हैं। इन दोनों के अतिरिक्त नई कविता की एक तीसरी परम्परा भी रही है जिसने यथार्थ की भूमि पर उतरकर शुद्ध रोमांटिक स्वर पहचाना है

और साथ ही अपने देश की सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति जागरूकता प्रकट की है। इस काव्य में व्यक्ति की भावशीलता तथा सामाजिक यथार्थवाद में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास है। पर आज की इस कविता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। यदि वास्तविक यथार्थ के प्रति जागरूक होना, नई परिस्थितियों के संघर्ष के प्रति सचेष्ट होना इस काव्य के व्यापक दृष्टिकोण तथा शक्तिपूर्ण स्वास्थ्य के लक्षण हैं, तो साथ ही व्यक्तित्व की अतिप्रधानता इस युग के कवि को व्यक्तिवादी दुरूहता और कुण्ठाओं में भी फँसा सकती है।

इन दो विशिष्ट सीमाओं के बीच में इस नये काव्य में जो अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं वे एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। भिन्न कवियों में ही यह विभेद हो, ऐसा भी नहीं है। एक कवि की विभिन्न कविताओं और कभी एक ही कविता में इस प्रकार का विरोधाभास पाया जाता है। वर्तमान युग की नवीन कविता में यह स्थिति इस युग के कवियों की मानसिक स्थिति का परिचायक है। इस युग का कवि भी मध्यवर्ग का है और वह इसी वर्ग से अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है। यह वर्ग द्वितीय महायुद्ध के समय से ही अन्तर्विरोधों की स्थिति से गुज़र रहा है। इस युद्ध ने इसी वर्ग को सबसे अधिक प्रभावित किया है। युद्ध के बाद स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय से भी उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। महँगाई, चोरबाज़ारी, घूसख़ोरी आदि का सबसे अधिक शिकार वही रहा है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद उसकी आकांक्षाओं को और धक्का लगा है, क्योंकि उसकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सका। आज के काव्य में उसी की अस्थिर मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक-स्थिति का संघर्ष प्रत्यक्ष हुआ है। यह कवि अपने को एकाएक विरोधी संघर्षों की परिस्थिति में पाता है और अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पा रहा है। पिछले छायावादी युग में मध्यवर्ग का व्यक्ति सामाजिक कुण्ठाओं से अधिक पीड़ित था, पर आज उसके मन पर आर्थिक और सामाजिक वैषम्य का प्रभाव तीव्र रूप से पड़ रहा है। लेकिन इसके साथ यह स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में भी मध्यवर्ग को टूटने से बचा लिया गया है। युद्धकालीन उद्योगों तथा बाद में राष्ट्रीय योजनाओं के कारण इसको अभी तक बेकारी का सामना नहीं करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त उसकी सामाजिक चेतना को निम्न वर्ग की अपेक्षाकृत सुधरी हुई स्थिति से भी आश्वासन मिला है। उसकी स्थिति का यही अन्तर्विरोध है। एक ओर राष्ट्रीय स्वाधीनता और उन्नति (कितनी ही कम रफ्तार से हो पर इसको कोई अस्वीकार नहीं किया जा सकता) से उसके मन में आस्था और विश्वास जगता है, तो दूसरी ओर अपनी बढ़ी हुई महत्त्वाकांक्षाओं के परितृप्त न होने से निराशा और अवसाद आ घेरता है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वचेतनता (Self consciousness) और संवेदनशीलता विशेष है जिसके कारण वह अपनी स्थिति को लेकर संसार की अनेक विरोधी मान्यताओं पर एकाएक सोचने-विचारने लगा है। परिणाम स्पष्ट है—एक ओर उसकी संवेदनाएँ अधिक वैयक्तिक होती जाती हैं और दूसरी ओर वह अपने को समय की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं से अलग नहीं कर पा रहा है। वर्तमान कवि की सबसे बड़ी समस्या यही है। इस समस्या को लेकर उसके मन में संघर्ष चल रहा है कि वह अपने अत्यधिक संवेदक व्यक्ति से आज के युग की विषम समस्याओं का

सन्तुलन किस प्रकार स्थापित कर सके। बँधी-बँधाई सीमा के अन्तर्गत सब-कुछ समझ लेने वाले आलोचकों ने नई कविता की खोज पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। पर मेरा आग्रह है कि आज की कविता की प्रेरणा यही संघर्ष है। मार्ग खोजने का संघर्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं, परन्तु यह ठीक है कि आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाले संघर्ष से वह बड़ा नहीं। जिनके लिए सब कुछ निश्चित है, मार्ग स्पष्ट है, उनकी समझ में मार्ग खोजने के संघर्ष की बात आ ही नहीं सकती है।

वर्तमान नई कविता को लेकर प्रतीकवाद का ज़िक्र भी ज़रूरी हो जाता है। बहुत से आलोचक इस कविता को इस पूर्वग्रह के आधार पर पतनोन्मुखी, अति अहंवादी, असामाजिक तथा अस्पष्ट कहते हैं। फ्रान्स की जिस सामाजिक स्थिति में प्रतीकवाद तथा अन्य घोर व्यक्तिवादों का जन्म हुआ था उससे इस देश की स्थिति नितान्त भिन्न है। साधारण असन्तोष और निराशा से उस युग की घोर असामाजिक आत्महन्ता प्रवृत्तियों की तुलना नहीं की जा सकती। बौद्धिक दृष्टि से इन कवियों का प्रभाव आज के कुछ कवियों पर माना जा सकता है, पर यह भी विशेष महत्त्व का नहीं। फ्रान्स के प्रतीकवादियों में वर्लेन (Verlaine) ने रोमाण्टिक कल्पनाओं को बौद्धिक माना है। उसने शुद्ध अनुभूति को कल्पना-बिम्बों के माध्यम से व्यक्त किया है। वह अभिव्यक्ति को आकस्मिक तथा अनुभूति को निरुद्देश्य मानता है। बिम्बों के द्वारा वह मन के गूढ़ कल्पनालोकों और अनुभूति की गहन घाटियों तक पहुँचने का दावा करता है। कल्पना जगत् में सदा-विचरने वाला आर्थर रिम्बो (Arthuir Rimband) भी इस अनुभूति को आकस्मिक मानता है। जिस प्रकार पत्थर फेंकने से पानी में लहरियाँ उठती हैं, उसी प्रकार जीवन की आकस्मिक थर्राहट ही वास्तविक अनुभूति है। कवि का काम इसकी व्याख्या करना नहीं है वह तो केवल संकेतों में उसे व्यक्त कर दे। उसने संगति से प्रभाव ग्रहण किया है। इस प्रकार कविता अर्थ लगाने की वस्तु नहीं वरन् उसकी कल्पनाओं का अनुभव करना चाहिए। मलार्मे (Mellarme) ने यथार्थ संसार से भिन्न आवेशमय 'विशुद्ध संसार' स्वीकार किया है। पाल वेलरी (Pal Valéry) और भी अधिक व्यक्तिवादी था। उसने 'विशुद्ध ध्वनि' का सिद्धान्त अपनाया है। इस प्रतीकवादी कविता में भाषा-शैली की दृष्टि से विद्रोही स्वर था। प्रतीकवादियों के अनुसार साधारण भाषा और उसके शब्द कविता के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इसलिए इस कविता ने साधारण उपकरणों को छोड़ रहस्य, संकेत तथा प्रतीकों का आश्रय लिया है। भाषा का महत्त्व अर्थ व्यक्त करने के लिए कम रह गया और संकेतों के लिए अधिक। प्रचलित छन्द की संगति से इन्होंने चेतना को एक स्थान पर ठहर जाने का भय माना। इनके अनुसार जब वस्तुओं का बिम्ब कल्पना में सीधा पड़ता है और अपनी चमक फैलाता है उस समय उसकी अभिव्यक्ति मुक्त छन्दों में ही सम्भव है। इन प्रतीकवादियों का जीवन-दर्शन आज के कवि से भिन्न है, यत्र-तत्र भाव-साम्य अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण सम्भव हुआ है। शैलीगत साम्य किंचित् विशेष है और जो आज की विषम मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। प्रतीकवादियों ने यूरोप के काव्य को एक सशक्त शैली अवश्य दी है और हम अपने प्रयोगशील कवियों से भी यह आशा कर सकते हैं। प्रतीकवाद के बाद घनवाद, भविष्यत्वाद, दादाइज़्म आदि

में घोर व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों ने समाज, भेद-भाव, स्मृतियों, भविष्य तथा तर्क को मिटा देने का संकल्प किया। इनका विध्वंसक स्वर अतिशय समाज-विरोधी था। आगे चलकर अतियथार्थवाद तथा अस्तित्ववाद में व्यक्तिवाद अपने चरम नग्न-रूप में सामने आ जाता है। अतियथार्थवाद में सभी प्रचलित आदर्शों तथा मर्यादाओं के प्रति विद्रोह है; इस पर मनोविश्लेषण की शैली का प्रभाव है। इस कारण जीवन के आन्तरिक समुद्र की सबसे अन्धकारपूर्ण गहराइयों की खोज इसमें है। अस्तित्ववादी में आत्मविश्वास विशेष है, इस कारण वह आशान्वित है; पर व्यक्तिवादी होने के कारण इसने भी संसार को नग्न-रूप में उपस्थित किया है। इन वादों का प्रभाव आज की कविता पर नहीं के बराबर है। वास्तव में हमारे कवियों का सम्बन्ध इलियट, इजरापाउण्ड, ओडेन तथा स्पैंडर से अपेक्षाकृत अधिक है और इन अंग्रेज़ी कवियों ने फ्रान्स के विभिन्न वादों का प्रभाव किंचित् भिन्न रूप में ग्रहण किया है; यह प्रभाव भाव का कम शैली का अधिक है। इस प्रकार इन विभिन्न वादियों की अतिवैयक्तिकता तथा असामाजिकता का आरोप हमारे कवियों पर बिना विचार किये करना अनुचित है।

आज के नये कवियों में कोई भी इस कोटि का असामाजिक व्यक्तिवादी नहीं है, जिस कोटि के कवि और कलाकार यूरोप के पिछले युग से ही भिन्न वादों के अन्तर्गत हुए हैं। यूरोप में १८५० ई० के बाद ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारी परिवर्तन हुए हैं। डारविन, फ्रायड तथा मार्क्स आदि ने पुरानी आस्थाओं को जड़-मूल से हिला दिया है। भौतिक-विज्ञान की उन्नति से यूरोप चमत्कृत हो गया। इसी बीच अनेक संहारक युद्ध तथा क्रान्तियाँ हुईं। इन सब बातों का प्रभाव वहाँ के काव्य के अनेक रूपों में देखा जा सकता है। जो बात यूरोप में क्रमशः हुई है, वह हमारे युग के सामने जैसे एकाएक उपस्थित हो गई है। परन्तु परिस्थिति की यह समानता वास्तविक से अधिक आभास-मात्र है। एक तो हमारे देश की परिस्थिति भिन्न है और दूसरे ये सब विचार यूरोप के बाद यहाँ आए हैं, इस कारण इन का प्रभाव कम हो चुका है। फिर भी इन सभी नवीन विचारों तथा बदले हुए आदर्शों की पीठिका पर इस काव्य में वस्तु-सत्य को लेकर या शैली को लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ यूरोप तथा इंग्लैण्ड के पिछले काव्य के समान मिल जायँ तो आश्चर्य नहीं। इस काव्य में विचारों का तीव्र संघर्ष, भावों का संकुलित उलझाव, अचेतन के प्रभावों का वर्णन मिलता है। उसी प्रकार इसमें नवीन अनुभूतियों, सत्यों तथा विचारों को व्यक्त करने के लिए पुरानी व्यंजना-शैली के प्रति विद्रोह है। पर घोर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का वह रूप इन कवियों में नहीं है और इसलिए उस सीमा की असामाजिकता भी इनमें नहीं है। मैं कह चुका हूँ कि यूरोप की पिछली परिस्थिति से हमारे देश की आज की स्थिति भिन्न है; पर साथ ही यह भी निश्चित है कि पिछली परिस्थिति से आज की स्थिति बदल रही है, अब नई मान्यताओं को निर्धारित करने की जिज्ञासा बढ़ गई है। इस बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजना आज के कवि के लिए अनिवार्य है। आज के युग में पुरातन साधारणीकरण की स्थिति बदल गई है। व्यक्ति और समाज की प्रतिक्रियाओं को व्यापक आधार देना ही साधारणीकरण है और कविता केवल रस की सिद्धि नहीं ढूँढती, वरन् मन को संवेदन-मात्र का प्रभाव देकर भी सिद्ध होती है। भारतीय

काव्य-शास्त्र में भी ध्वनि का सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। यदि जीवन और जगत् में नवीन सम्बन्धों की स्थिति उत्पन्न हो जायगी, तो कवि को निश्चय ही ध्वनि के रूप में अर्थ तथा प्रभाव की व्यंजना के लिए नई शब्द-शक्ति, नई व्यंजना-शैली तथा नये छन्द-विधान की योजना करनी होगी। कविता में जब तक प्रभाव को अधिक संवेदक करने की बात स्वीकृत रहेगी। तब तक किसी-न-किसी प्रकार की छन्द-योजना भी मान्य रहेगी, भले ही वह मुक्त छन्द ही क्यों न हो। मानसिक संवेदनाओं, प्रभावों तथा तीव्र विचारों को एक साथ अभिव्यक्त करने के लिए मुक्त-छन्दों का प्रयोग अनिवार्य हो गया है।

आज का साहित्य केवल अभिव्यक्ति के सौन्दर्य-मात्र को अपना लक्ष्य मानकर नहीं चल सकता। वह अधिक गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह का हामी है। यह इस बात से सिद्ध होता है कि आज का कोई कवि व्यक्तिवाद को घोषित करके स्वीकार नहीं कर रहा है। इसके अतिरिक्त वह सामाजिक प्रेषणीयता को मान्यता देता है। मनुष्य के लिए उनके आनन्द की उपलब्धि बड़ी हो चाहे न भी हो, पर उसकी निज की सामाजिक स्थिति अधिक सत्य है—यथार्थ है। आज प्रश्न के इस अंश को छोड़ने वाला व्यक्ति या तो अपनी दमित कुण्ठाओं से पागल माना जायगा या अपने अहंकार में आत्म-विस्मृत। सामाजिक प्रयोजन तथा वर्गहीन समाज के आदर्श को लेकर चलने वाले नये प्रगतिशील कवियों का उल्लेख किया गया है। पर दुर्भाग्य से जैसा कहा गया है कुत्सित समाजवादी विचारकों तथा आलोचकों से प्रभावित रहने के कारण वे मार्क्स तथा लेनिन के साहित्य की यथार्थवादी समाजशास्त्रीय व्याख्या के वास्तविक अर्थ समझने में असमर्थ रहे हैं। प्रोकोवास्की, अवरवाख़ तथा फ्रैरवनाफ़ आदि संकीर्ण समाजवादी विचारकों तथा आलोचकों ने रूसी साहित्य को संकीर्ण और रूढ़िवादी सीमाओं में बाँध दिया था। इनके प्रभाव में साहित्य अपनी समस्त शक्तिशाली परम्परा से विच्छिन्न हो गया। पर रूस में यह स्थिति बहुत दिन तक नहीं रह सकी। जिन परिस्थितियों में सर्जी येसेनिन जैसे भावुक और कोमल कवि को आत्महत्या करने पर बाध्य होना पड़ा था और जिनका बोझा अन्त में मायकावस्की जैसे कवि के लिए असह्य हो गया, उनका निराकरण रूस में शीघ्र ही होना शुरू हो गया। फ्योडोर लेनिन, मार्करोज़ेन्थाल तथा माइकेल लीफशिन्स आदि आलोचकों ने संकीर्ण वर्गवादियों का तीव्र विरोध किया और उन्होंने स्वस्थ समाजवादी यथार्थ की व्याख्या की। गोर्की ने अपने जीवन और साहित्य में इसी विचार-धारा का पोषण किया है। इस व्याख्या के अनुसार परम्परा को स्वीकार किया गया, स्वस्थ रोमाण्टिक भावना को ग्रहण किया गया—इसी कारण आज रूस में पुश्किन टॉल्स्टॉय का महत्त्व स्वीकृत हुआ। इधर कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने संकीर्ण समाजवादियों का विरोध किया है और साहित्य को नवीन मान्यता देने का प्रयत्न किया है। पर यहाँ एक बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। प्रगतिशील कहलाने वाले कवि देश के वास्तविक यथार्थ से अपरिचित रहे हैं, पर उनकी कविता का महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनकी स्थिति से आज की कविता को घोर व्यक्तिवादी तथा असामाजिक प्रवृत्तियों के विकास में बाधा पहुँची है, इस प्रकार इन्होंने सन्तुलन का काम किया है।

अन्त में मैं उस परम्परा की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ जो अभी स्पष्ट

रूप से सामने नहीं आई है, पर जो गति और शक्ति का परिचय छायायुग के बाद से देती आ रही है। इस वर्ग के कवि ने छायावादी-शैली के सशक्त तत्त्वों को ग्रहण करके शुद्ध रोमाण्टिक काव्य का प्रारम्भ किया था। प्रगतिवाद से समाजवादी यथार्थ की उदार दृष्टि ग्रहणकर इन्होंने देश की वास्तविक समस्याओं को जीवन की भावशीलता के आधार पर ग्रहण किया है। इन कवियों ने समस्त परम्परा को स्वीकार करके भी लोक-जीवन और लोक-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करना प्रारम्भ किया है। इस परम्परा में प्रयोगशील तथा प्रगतिशील दोनों वर्ग के कवि आ जाते हैं। यूरोप में भी इसी प्रकार लुई अरागों, पाल-एलुमा, पावलो नरूदा, लोर्का, ओडेन तथा स्पेंडर आदि कवियों ने अपना मार्ग संघर्ष के बीच से निकाला था। इस दृष्टि से विचार करने पर नई कविता से शंकित अथवा निराश होने की बात नहीं है। यद्यपि ये अभी बहुत कुछ अपने व्यक्तित्व तथा अहं से उलझे हुए जान पड़ते हैं, पर इनके मन में जीवन के स्वस्थ मार्ग को खोज निकालने की उत्कट इच्छा है। वे भाषा और शैली को नये युग के अनुकूल बनाने का प्रयास कर रहे हैं जो आगत युग की भावनाओं को सहज रूप से वहन कर सकेगी। इस प्रकार नवीन काव्य की सम्भावनाओं के प्रति हम पूर्ण आस्थावान हैं और अपने युग की प्रतिभाओं के प्रति हमको पूरा भरोसा है।

× × ×

प्रस्तुत पुस्तक में वर्तमान युग के काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विद्वान् आलोचकों ने प्रकाश डाला है। ये समस्त व्याख्याएँ सैद्धान्तिक हैं। इस कारण मैंने सिद्धान्तों की विवेचनाओं के सम्बन्ध में अपना मतामत न प्रकटकर वर्तमान युग के काव्य की ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर अपने कर्तव्य की रक्षा की है। इस विवेचन में सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मेरी धारणाएँ अन्तर्निहित हैं। सैद्धान्तिक वाद विवाद को मैंने जान-बूझकर नहीं उठाया है, वैसे मत के सम्बन्ध में मेरी स्वीकृति तथा विरोध पाठक के सम्मुख स्वतः स्पष्ट हो जायगा। मैंने तो इस भूमिका में पुस्तक के विभिन्न लेखों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न-भर किया है।

सूची

प्रभाकर माचवे

१

रहस्यवाद

: १ :

'रहस्य' जिस 'रहस्' संज्ञा से बना है उसके पाँच अर्थ होते हैं—(१) एकांत, गुप्तता, (२) छिपने का स्थान, (३) कोई अज्ञात बात, (४) स्त्री-पुरुष-सम्भोग, (५) कानून से सम्मत कोई अनुबन्ध। 'शाकुन्तल' में 'रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः' या 'उत्तररामचरित' में 'रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते' इसी गोपन आचरण या गुप्त बात के अर्थ में आया है। साहित्य से भिन्न धर्म में आकर 'रहस्य' शब्द कुछ उपदेशात्मक अर्थ देने लगता है; जैसे 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में 'अनभिख्यात दोषस्तु रहस्यं व्रतमाचरेत्' या 'भगवद्गीता' में 'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'। अंग्रेजी का शब्द 'मिस्टिक' या 'मिस्टिसिज्म' यूनानी धातु 'मुस्टीस' से बना है, जिसका अर्थ है जीवन और मृत्यु की सचाइयों का गुप्त ज्ञान जानने वाला व्यक्ति। इस प्रकार 'रहस्यवाद' शब्द की भी तीन स्थितियाँ हैं : एक तो समाजविज्ञान-नृविज्ञान में जादू-टोने आदि के अध्येताओं की दृष्टि में एक सामूहिक भय-विश्वास के अर्थ में; दूसरे धर्म और देव-शास्त्र (थियौलौजी) में, जिसका छनकर प्रभाव प्राचीन सन्त-काव्य में और कुछ आधुनिक साहित्य में भी आया है; तीसरे विज्ञानों में, विशेषतः मनोविज्ञान में और उच्च भौतिक विज्ञान या उच्च गणित में सापेक्षतावाद या 'क्वान्तुम' आदि की चर्चा में।

फ्रेजर ने अपने 'गोल्डन बाउ' में 'बाल्डर दि ब्यूटिफुल' अध्याय में पृष्ठ ३०४–५ पर लिखा है कि सभ्यता के विश्वास तीन अवस्थाओं में से गुजर रहे हैं : जादू, धर्म और विज्ञान। सबसे पहले मनुष्य को अपनी शक्तियों में इतना अधिक विश्वास होता है कि वह मानो सब-कुछ स्वयं कर सकता है। मन्त्र से वह साँप को बुला सकता है, भूत-बाधा को उतार सकता है, मारण-उच्चाटन कर सकता है—इस बालिश आत्मोन्माद की स्थिति में अपने से बाहर की किसी शक्ति पर विश्वास करने की जरूरत नहीं होती। परन्तु धीरे-धीरे यह विश्वास खण्डित होता है और प्रकृति की महच्छक्ति के आगे जैसे मनुष्य हथियार डाल देता है। ऐसी अवस्था में धर्म का उदय होता है; पंच महाभूत देवता बन जाते हैं, क्रूर और मनमौजी। परन्तु फिर मनुष्य सँभलता है, प्रकृति का उपयोग करना सीखता है, और अपनी शक्ति पर पुनः भरोसा करके प्रकृति को बाँधना चाहता है। यह अन्तिम अवस्था है विज्ञान। इस प्रकार से सभ्यता के ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ रहस्यवाद की व्याख्या भी बदलती गई है। जो हमारे लिए वैदिक काल में रहस्यमय था, वह आज भी शाश्वत सनातन भाव से रहस्यमय है, ऐसा मानना मनुष्य की बुद्धि के सारे वैभव और कृतित्व का अपमान करना है। इससे उलटे यह समझ लेना कि ज्ञेय जो कुछ था वह सब ज्ञात हो चुका, आगे जानने योग्य कुछ बचा नहीं है यह दूसरी कोटि की हठधर्मिता है। ऐसे भी तो जीवन में अनुभूति के प्रगाढ़ क्षण होते हैं जहाँ 'यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा

सः'—जहाँ 'अविगत अविकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।' (कबीर) या जैसे दादू ने कहा था :

भाई रे बाजीगर नट खेला, ऐसें आपैं रहै अकेला।
यहु बाजी खेल पसारा, सब मोहे कौतिग हारा।
यहु बाजी खेल दिखावा, बाजीगर किनहुँ न पावा॥

सृष्टि के इस रहस्य को, इस बाजीगरी को जानने का जैसा यत्न सन्तों ने, अध्यात्मवादियों ने किया है, दूसरी ओर उस विराट् प्रकृति के आगे कविजन भी नतशिर, चकित और शब्दों के लिए टटोलते हुए चौंधियाए हुए स्तिमित व्यक्ति बने हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की इस 'त्रिपुटी' को, या आधुनिक रस-शास्त्र की परिभाषा में कहें तो 'सब्जेक्ट-आब्जेक्ट-यूनिटी' को समझने में कई कवियों की दशा दिग्भ्रमित-सी हुई है। कई पूछते ही रह गए हैं, जैसे 'चित्रा' में रवीन्द्रनाथ :

जगतेर माझे कत विचित्र तूमि हे
तूमि बिचित्र रूपिणी!
अयूत आलोके झलशिछे नील गगने
आकुल पुलके उल्लशिछे फूल-कानने
द्युलोके भूलोके बिलशिछे चल-चरने
तूमि चंचल-गामिनी।
...कत ना वर्णे, कत ना स्वर्णे गठिते
कत जे छन्दे, कत संगीते रटिते
कत ना ग्रंथे कता ना कंठे पठिते
तब असंख्य काहिनी।
तूमि बिचित्र रूपिणी।

और इसी विचित्ररूपिणी का 'नाहि कालदेश, तुमि अनिमेष मूरति, तुमि अचपल दामिनी'-जैसा हाल है! और वही शाश्वत टोह 'सायुज्य यांचा' बन 'अपलक' के कवि के शब्दों में फूट पड़ती है : 'मेरे प्रिय अलख-झलक'! या महादेवी के शब्दों में :

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी;
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी;
तान भी, आघात भी, झंकार की गति भी;
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी

तो यह रहस्य-भावना आदिम जातियों में अभी भी उसी रूप में विद्यमान है, जो तर्क को चुनौती देती-सी जान पड़ती है। डॉक्टर रिवर्स ने 'दि टोडाज़' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ २४६ पर कहा है कि "भारत की आदिवासी जाति टोडाओं में भविष्य देखने वाले, जादू करने वाले और बीमारी उतारने वाले तीन भिन्न प्रकार के लोग होते हैं और ये तीनों पुजारियों से भिन्न होते हैं। इस प्रकार से सभ्यता की दिशा में टोडा एक विकसित प्रकार की जाति है।" चीन में लाओ-त्जे के समय तक—यानी ईसा से छः सौ वर्ष पूर्व और शाक्यमुनि गौतम के सौ वर्ष बाद—धर्म-साक्षात्कार और वैज्ञानिक चिकित्सा एकरूप थीं। लाओ-त्जे के बारे में कहा जाता है कि उसने मर्मी का हृदय

पाया था, परन्तु उसका स्पर्श वैद्य का-सा था और दृष्टि किसी प्राणि-शास्त्रज्ञ की-सी। प्राचीन मिस्रियों के विश्वासों में इसी प्रकार के कल्पना-प्रसूत और वास्तव विश्वासों का सम्मिश्रण मिलता था। लाइप्जिग से १९०८ में छपे 'डाइ आल्टाइप्टिशेन पिरामिडेएटेक्स्टे नाख डेन पापीराब्रू केन' के आधार पर जो पिरामिड पर उत्कीर्ण लेख मिले हैं, उनका आशय भी इसी प्रकार का है :

जब स्वर्ग का अस्तित्व नहीं हुआ था,
जब मनुष्य का अस्तित्व नहीं हुआ था,
जब देवताओं का जन्म नहीं हुआ था,
जब मृत्यु का भी आरम्भ नहीं हुआ था'''

आदि। असुरी महाकाव्य गिल्गिमेश में भी सिदुरी जब शोक करती है तब कहती है—"शोक वृथा है, क्योंकि ईश्वर ने जब मानव को बनाया, तब कहा कि मृत्यु तेरे हाथ में है, जन्म हमारे हाथ में रहेगा!"

यह सहज-विश्वास की भावना सारे रहस्यवाद के मूल में मिलती है। चाहे असुरी-बाबुली, मिस्री चीनी या भारतीय-ईसाई-इस्लामी कोई भी रहस्यवाद हो उसके मूल में दो-तीन बातें एक-सी मिलती हैं और कविता में रहस्यवाद के अध्ययन में वे बहुत उपयोगी हैं : एक तो काल के बंधन से परे कोई वास्तविकता है, यानी वह जन्म-मृत्यु के बन्धनों से परे, अजन्मा, अमर है।

दो, मनुष्य उसे पाना चाहता है। उस अज्ञात अखण्डता के प्रति उसके मन में एक निरन्तर अन्वेषण-भावना काम करती रहती है, और

तीन, पाप या बुराई कुछ नहीं है, केवल भास-मात्र है। वह है तो इसीलिए कि विश्व को खंडशः स्वयम्-शासित मानने से अपूर्णता पैदा होती है।

इस दृष्टि से रहस्यवाद की जो दो-चार परिभाषाएँ हमारे काम की हमें मिलती हैं वे इस प्रकार की हैं :

(१) 'परमोच्च के साथ प्रत्यक्ष मिलन के परम पवित्र आनन्द को उपलब्ध करने का मानवी मन का प्रयत्न रहस्यवाद है।' (प्रिंगल पैटिसन: दि आइडिया ऑफ़ गॉड)

(२) 'प्रेम मार्ग से परमात्मा की प्राप्ति का और उसके लिए आवश्यक सफल सेवा के आदर्श से प्रेरित किसी व्यक्ति के आत्म-निरपेक्ष आग्रह को रहस्यवाद कहते हैं।' (टी० एच ह्यू : 'दि फिलॉसाफिकल बेसिस ऑफ़ मिस्टिसिज़्म' पृष्ठ ९०)

(३) 'रहस्यवाद आत्म का नैरात्म से ऐसा सम्बन्ध है जिसमें अपने वैयक्तिक हेतुओं से परे वह बृहत्तर आदर्शों की प्राप्ति के लिए सामरस्य से या प्रेम से प्रयत्न करे। इस प्रकार से रहस्यवाद विश्व की अखण्डता के साथ भाव-सम्बन्धों का आनन्दमय संश्लेषण है।' (हैवेलाक एलिस)

(४) 'रहस्यवाद एक प्रकार की दिव्य अनुभूति है, सिद्धान्त नहीं; यह तो एक प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण है, कोई दर्शन-पद्धति नहीं।' (स्पर्जियन)

युगों के अनुसार काव्य के प्रयोजन जैसे बदलते गए हैं, रहस्यवाद-विषयक विचार भी बदलते गए हैं। इनका ऐतिहासिक विवेचन हमें उपनिषदों से शुरू करना चाहिए।

: २ :

उपनिषदों पर प्राध्यापक रा० द० रानाडे की पुस्तक 'दि कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ग्राफ़ दि उपनिषदाज' एक अमूल्य और मार्मिक रचना है। उसमें उपनिषत्कारों की शिक्षा देने की जो अनेक पद्धतियाँ उन्होंने बताई हैं उनमें से कुछ हैं: (१) रहस्यात्मक, (२) सूत्रात्मक, (३) शब्द व्युत्पत्ति-निष्ठ, (४) पौराणिक कथानकात्मक, (५) दृष्टान्तात्मक, (६) संवादात्मक, (७) समन्वयात्मक, (८) आत्मगत भाषणात्मक, तथा (९) शिष्याधिकारानुसारिणी। इन सबमें रहस्यवादी भाव-कविता के समान बहुत से अंश मिलते हैं। उपनिषद् का काव्य स्पष्टतः भाव-काव्य नहीं, विचार-काव्य है। 'ईशावास्योपनिषद्'-जैसे सबसे छोटे उपनिषद् को पढ़ने पर जैसा मनःप्रसादन होता है वह अन्यन्त्र दुर्लभ है। गांधीजी इस उपनिषद् को अपनी प्रेरणा का आदि-स्रोत मानते थे और मराठी में विनोबा ने और हिन्दी में सियारामशरण गुप्त ने इस उपनिषद् के समश्लोकी अनुवाद तथा वृत्तियाँ लिखी हैं। सब उपनिषद् पद्यमय नहीं हैं: कुछ गद्यमय, कुछ गद्य-पद्य-मिश्रित भी हैं। डायसन ने 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के गद्य के काव्य-सौन्दर्य की खूब प्रशंसा की है: छोटे-छोटे सूत्रमय वाक्य, सरल शब्द और उनमें ऐसा गजब का अर्थ-गांभीर्य! 'छांदोग्योपनिषद्' में 'छन्द' शब्द की उत्पत्ति दी है: 'देवताओं ने छन्द से स्वयम् को आच्छादित कर लिया, इसीलिए उसे छन्द कहते हैं' (१-४-२)। पाणिनि के अनुसार 'छन्दस्' और 'साम' स्वतः प्रमाण थे: कुछ छन्दस् 'दृष्ट' थे और कुछ 'प्रोक्त' थे ('छन्दसि दृश्यते' और 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि') छन्दस् का मूल अर्थ था याचना; 'छन्दस्' और 'ऋग्' एक ही थे। 'आवसथ' नामक प्राचीन वैदिक शब्द का अर्थ है घर या संग्रह; 'अवस्ता' उसी का अपभ्रंश रूप है। अतः 'झन्द अवस्ता' वस्तुतः छन्द+आवसथ (छन्दों का संग्रह) है (देखिए दस्तूर होशंगजी जमस्फेटजी का जन्द पहलवी कोश)। 'बृहदारण्यक' में 'वाक्' अनुष्टुभ् मानी गई है, परन्तु सावित्री का उपदेश गायत्री छन्द में ही बताया गया है (५-१४-५)। उपनिषत्काल तक छन्द-शास्त्र बहुत-कुछ निर्णयात्मक अवस्था में पहुँचा हुआ था। उपनिषदों में दंतकथा, संवाद, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति, संकेत, मानवीकरण आदि सब प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरणों से मैं अपनी बात स्पष्ट करूँ:

'बृहदारण्यक' में बिजली की चमक को जमुहाई लेने की उपमा दी गई है (१।१) और नक्षत्रों को चिनगारी (६।२।११) माना गया है। चिनगारी की उपमा बार-बार आती है: "जैसे अच्छी धगधगाती आग में से तत्स्वरूप सहस्रों चिनगारियाँ पैदा होती हैं, उसी प्रकार से हे वत्स, अक्षरब्रह्म से नाना जीवों की उत्पत्ति होती है और उसी में वे विलीन होते हैं" (मुण्डक: २।१।१)

"जिस प्रकार से म्यान में तलवार समूची भरी रहती है, उसी प्रकार से नखाग्र से समस्त शरीर में आत्मा संव्याप्त है।" (बृहदारण्यक: १।४।७)

"जिस प्रकार से मृत्तिका के एक घट से इतर सब मृत्तिका-विकार जाने जा सकते हैं; क्योंकि विकार ये निरे वाणी के अवलम्बन हैं, मृत्तिका ही केवल सत्य है; जिस प्रकार से एक लोहे की अनी से सब लौह-विकार जाने जा सकते हैं, क्योंकि विकार ये केवल वाणी के आलम्बन हैं, लौह ही अकेला सत्य है; जिस प्रकार से सुवर्ण की एक वस्तु से सब सुवर्ण-विकार जाने जा सकते हैं। क्योंकि विकार केवल वाणी का अवलम्बन है, सुवर्ण ही केवल सत्य है; उसी प्रकार से मैं कहता हूँ यह आदेश है।" (छांदोग्य: ६।१।४-६)

: ४ :

अरा इव रथ नाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ (प्रश्नोपनिषद् २ । ६) "जिस प्रकार से चक्र के आरे रथनाभि में स्थित होते हैं, उसी प्रकार से सब वस्तु-जगत् प्राणियों में स्थित है ।" यही चक्र और आरों का दृष्टान्त 'मुण्डकोपनिषद्' में (२ । २ । ६) और 'बृहदारण्यक' में (२ । ५ । १५) दिया गया है ।

'छांदोग्योपनिषद्' में तीसरे अध्याय में (खंड १ से ५) बहुत काव्य है । यहीं वह रहस्यमयी विराट् प्रतीक-संयोजना है—'यह आदित्य यानी देवताओं का मानो मधु है । द्युलोक वृक्ष की शाखा है । और आकाश उस पर शहद का छत्ता है; और उस छत्ते में का शहद है आदित्य ! सूर्य-किरणों में स्थित उदक भ्रमर-पुत्र हैं । पूर्व दिशा की किरणें इस छत्ते के पूरब के छेद हैं । ऋचा शहद जमा करने वाले भ्रमर हैं ।' इत्यादि ।

'ऐतरेयोपनिषद्' में 'अशना' (भूख) और 'पिपासा' (प्यास) यह देवियाँ मानी गई हैं और उनका आत्मा से संवाद कराया गया है । 'मुण्डकोपनिषद्' में आहुति का ऐसा ही सजीवप्राय वर्णन है । यह सब अप्रस्तुत-विधान रहस्यवादी संकेतवाद के बीजरूप में मिलता है । भारतीय काव्य-परम्परा में हिरण्यगर्भ वाला 'बृहदारण्यक' का प्रसिद्ध अंश (१ । ४ । १) फ्रायड ने अपने ग्रंथ 'दि ईगो एंड दि इड' के आरंभ में उद्धृत किया है । उसी प्रकार से 'बृहदारण्यक' में श्येन पक्षी का रूपक कि···'तुम अन्तहीन नभ होना, युग उड़ जाये उड़ने में, परिचित हो एक न कोना' (महादेवी : रश्मि : अतृप्ति) ऐसे आकाश में घूमकर वह लौटकर नीड के प्रति आता है और इस अन्तिम सुषुप्तावस्था में पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता, लोक अलोक आदि (४ । ३ । १६--३२) बहुत प्रबल दृष्टान्त हैं ।

उपनिषदों में केवल रहस्य की टोह की भावना ही नहीं, उसे व्यक्त करने में रहस्यवादी कवितावाली शैली भी अपनाई गई है । 'पारिजात' मासिक में 'धर्म और साहित्य' निबन्ध में मैंने टी० एस० इलियट के तर्कों का उत्तर देते हुए विस्तार से अग्नि-सम्बन्धी विदेशी कविता और उपनिषदों के विचार का तौलनिक अध्ययन प्रस्तुत किया था । उपनिषत्कार की यह सततोर्ध्वगामिनी जिज्ञासा, यह चिरौत्सुक्य हमें कविता में रहस्यवाद की आगे की मंजिलों को समझने में बहुत सहायक होगा ।

: ३ :

भारतीय कविता में आरम्भिक रहस्यवाद के मूल में केवल उपनिषद् ही नहीं हैं । परन्तु शैव मत, वेदान्त, बौद्धों का शून्यवाद, तांत्रिकों (शाक्तों) का समाज-द्रोह आदि के प्रभाव भी बहुत स्पष्ट हैं । इनको एक-एक करके लें तो त्रिमूर्ति की जो कल्पना है उसके मूल में हमें जाना होगा । उपनिषद् में 'माता पूर्व रूपं' ऐसा वचन है । उत्तराखंड के लोगों की दृष्टि से 'मातर पितरौ' रूप होता है । पहले माता का माहात्म्य था : रामायण के 'सौमित्रि' महाभारत के 'कौंतेय' रूप इसी के द्योतक हैं । 'गंधर्व' कुमारी का परिग्रह करते थे; देवता, होत्रा शब्द स्त्रीलिंग ही हैं । 'सूर' वैदिक सवितावाचक शब्द पाणिनी के 'सू' धातु से बना । 'सूर' या 'सू' : का अर्थ है माँ । सूर्या, मित्रा (असुरों की देवी) आदि भी इसी के द्योतक हैं । 'मिलित्ता' असुरों की और 'मित्रा' ईरानी लोगों की देवता थी (कैरे के 'हेराडोटस' में प्रथम खंड, परिच्छेद १३१ के अनुसार) । इसीलिए पाणिनी 'देवताद्वन्द्व' की बात पहले करते हैं । 'द्वन्द्व' का मूल अर्थ था स्त्री-पुरुष । जर्मन भाषा में सूर्य

स्त्रीलिंगी है; नार्वे की लोक-कथाओं में भी अदिति स्त्री-है और चंद्र कुमार; लतीनी में 'इग्निस' (अग्नि) स्त्रीलिंग शब्द है। मातृसत्ताक समाज-पद्धति का यह गहरा असर बाद में भी देवी-पूजा के रूप में रहा। 'काली पूजा इन केरल' नामक ग्रन्थ में इसका ऐतिह्य विवेचित है। सूर्य-पूजा का ही यह उत्तर रूप है।

लिंग-पूजा का मूल कुछ इतिहासकारों के अनुसार करनूल के पास का 'श्रीशैल', बाणगंगा और गोदावरी के संगम का 'कालेश्वर' और सप्त गोदावरी का 'भीमेश्वर' इन तीन लिंगों का प्रदेश 'त्रिलिंग' माना जाता था। परन्तु मूलतः त्रिकलिंग उसका नाम था : 'कलिंग', 'आंध्र' और 'द्रोणकटक' मिलकर त्रिकलिंग बनते थे (जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी, जून १८३७, पृष्ठ ४९१)। इसीसे ति अलिंग>तिलिंग बना। इस लिंग-पूजा में त्रिमूर्ति की कल्पना का बीज है। 'पशुपति' के रूप में परमात्मा को याद करने वाले भवभूति के काल तक गौओं का पालक लोकनायक कवि के सामने आदर्श था, उसे अध्यात्म का जामा पहनाकर जीव, पशु की भाँति परतन्त्र है, पशुपाल पशुपति स्वतन्त्र है। यही पशुपतित्व बाद में विष्णु का 'गोपालत्व बना। इस प्रकार से त्रिमूर्ति की तीन शक्तियाँ प्रधान थीं : पहली शक्ति काली अर्थात् संहारक; दूसरी पशुपती अर्थात् संरक्षक; तीसरी विश्वास उत्पन्न करनेवाली। 'काल' का बनाने वाला है सविता (सूर्य)। इससे काली उसका रूप बना। बाद में काल = मृत्यु की भावना भी उसमें जुड़ गई। शक लोग मार की उपासना करते थे यानी खड्ग या स्कन्द की।

शिव के अन्य नामों से भी इस बात का प्रमाण मिलता है : वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' में किरात-खण्ड नैऋत्य और ईशान की ओर है। 'महाभारत' के वनपर्व में १४०वें अध्याय में किरातों के राजा का उल्लेख है। शिव किरात रूप धारण करता था, ऐसी प्रसिद्धि है। रुद्र का अर्थ है ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार 'सोरोदीद् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' अर्थात् रुलाने वाला। याज्ञिकों की अच्छी तरह मरम्मत करने के कारण 'किरात' और 'रुद्र' को उन्होंने 'प्रमथ' भी कहा। 'वाजसनेय संहिता' में उल्लेख है कि किरातों का राजा त्र्यंबक मुञ्जवान् पर्वत पर रहता है। उसकी अम्बिका नाम की 'स्वसा' (सगी बहन, पत्नी) थी। बाद में किसी याज्ञिक ने अपनी लड़की सती एक त्र्यंबक से ब्याही। फिर भी वह यज्ञों का समुचित आदर न कर सका, यह दक्ष-कथा से स्पष्ट है। बाद में डर के मारे याज्ञिकों ने अपने यज्ञ का एक भाग त्र्यंबकों को देना शुरू किया। किरातों के ग्यारह गण थे; वे एकादश रुद्र कहलाये। धनुर्वाचक 'पिनाक' से यही त्र्यंबक, रुद्र ,प्रमथाधिप, पिनाकपाणि बना। और किरात 'कृत्तिवासस्' होने से शिव 'कृत्तिवासाः' बना। अर्वाचीन शिवत्व हिमालय पर्वत पर देवतात्व का आरोप है। इसी से 'भागीरथी' उसके मस्तक पर है, वह 'दिगम्बर' है। पूर्व दिशा के अन्त पर 'नाग' रहते हैं और पश्चिम के अन्त पर सर्प, अतः वे ही उसके भूषण हैं। वृषभ या वनगौएँ हिमालय की तराई में बहुत होती हैं—वे ही उसका वाहन हैं। इसी से वह 'गिरीश' या पर्वतों पर सोनेवाला और पार्वती (पर्वत की शोभा) का पति है। संस्कृत-नाटकों का शिव अनेक परस्पर-विरोधी धर्मों का चूँ-चूँ का मुरब्बा है। उसमें यज्ञप्रिय ब्राह्मणों ने अयाज्ञिकों में जो-कुछ अच्छा मिला उनका समाहार कर लिया है।

शिव का पुत्र हेरंब (द्राविड भाषा में हेरंब का अर्थ है हाथी) और स्कन्द हुए। हाथी की पूजा मतंगों में पहले होती थी। 'अग्नीशिवौ' देवता-द्वन्द्व इस प्रकार से रूढ़ हुआ। श्रुति है : 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।' ब्राह्मण और क्षत्रियों का परस्पर-लाभ यों होता

था कि ब्राह्मण निज को पवन और क्षत्रियों को अग्नि कहते थे (देखिये 'रघुवंश' सर्ग ८, श्लोक ४)। विष्णु दोनों का पोषण करने वाला बना। याज्ञिकों का विष्णु-स्वरूप आकाश और समुद्र का प्रतीक नील रूप है। लक्ष्मी इसीलिए समुद्र-कन्या है—दरियाई डाकुओं की यह उपलब्धि है; विष्णु समुद्र का जमाई है। विष्णु का स्वरूप दो प्रकार का है : अंगिरस् गंधर्व-कृति और 'भृगु' असुर। दोनों लक्ष्मियों में भी अन्तर है। विष्णु-पत्नी चंचला, सदा उसके पैर चाँपनेवाली है। लक्ष्मी के आलिंगन से प्रायः लोग उन्मत्त होते हैं—अतः उसकी इतनी निन्दा बाद में सिद्धों ने की। इसी कारण से विष्णु महाराज असुरादिकों की पत्नियों के साथ रममाण होते रहे और शास्त्र-निन्दित स्त्री-वेश भी उन्होंने लिया। त्रिमूर्ति के इस दूसरे रूप विष्णु के कारण स्त्रियों की दशा बहुत शोचनीय बनी। शिव' और 'शिवा' का अर्धाङ्ग योग मन को पावन करने वाला था। विष्णु पितृसत्ताक समाज-पद्धति का प्रतीक है। यह विष्णु सर्प पर सोता है। सर्प याज्ञिकों में अग्रगण्य थे। यज्ञ-पुरुष उसके सहारे रहता है। कश्यप सरोवर के पास कद्रू नाम का एक गाँव था। कुद्रुश बेहि-स्तुन शिला-लेख, स्तम्भ २, परिच्छेद १२ के अनुसार यह पीमिडा देश में था। कद्रू प्राचीन सर्प-भूमि थी। आजकल का कुर्दिस्तान आरमीनिया के निकट है। कुर्द, कद्रु या गरुड़ का अप-भ्रंश है। पुराणों के अनुसार कद्रु और विनता कश्यप ऋषि की पत्नियाँ थीं। शेष काद्रवेय हैं। वह अपने कई बंधुओं के साथ कद्रू छोड़कर विष्णु से जा मिला। काद्रवेय यज्ञ-विद्या का तिरस्कार करनेवाले थे। शेषादि याज्ञिक थे। गरुड़ विनता में रहने वाला 'गरुत्मत्' (बहुत से घोड़े रखने वाला) था। गंधर्वों की सहायता से गरुड़ों ने विनता को क्लेश-मुक्त किया। गरुड़ इस प्रकार से विष्णु का वाहन बना। शिव और विष्णु में इस प्रकार से अन्तर पड़ा और विरोध बढ़ा : शिव श्वेत, विष्णु नील; शिव ने आकाश सिर पर धारण किया, विष्णु ने उसे लात मारी; शिव निःशेष भुवन-मण्डल का स्वामी है तो विष्णु केवल ऊपर के विष्णुपद का; शिव के सर्प और विष्णु के गरुड़ प्रिय बने; शिव एकपत्नी-व्रती है तो विष्णु की अनेक स्त्रियाँ होने पर भी वह परस्त्रियों पर आसक्त होता है; शिव यज्ञ का मथन करने वाला, विष्णु स्वयम् यज्ञपुरुष; शिव मदन-दहन करता है, विष्णु रति-लम्पट है; शिव ने अर्द्धाङ्ग शिवा को दिया, विष्णु ने पत्नी को पाद-संवाहन के लिए दासी नियुक्त किया। इस प्रकार से 'सूर्य' और 'हिमालय' शिव बने और 'आकाश' और 'समुद्र' विष्णु।

ब्रह्मा बाद में दोनों को मिलाने के लिए नपुंसक लिंग 'ब्रह्म' से मिला। पुल्लिंग ब्रह्मा वेद-पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ। वेद चार हैं तो ब्रह्मा चतुर्मुख है। कुरुक्षेत्र की प्रसिद्ध नदी सरस्वती के किनारे पर कई मन्त्र मिले, अतः वह वाङ्मय की अधिदेवता बनी। ब्रह्मा उसका पति। यज्ञ के प्रभाव से 'प्रजा' मिलती है अतः वह प्रजापति बना। यज्ञ पर 'स्रष्ट्र' त्व का आरोपण होकर ब्रह्म बना। नाभि और गर्भाशय एक ही है। नाभि = कारण, जनक, उत्पादक। ब्रह्मा नाभिजन्मा है। विष्णु 'नाभि' है यानी जगत् का आदिकारण है। योगियों की भाषा में नाभि कमल है, अतः ब्रह्मा कमलजन्मा है। 'ब्रह्म' 'तज्जलानिति' अर्थात् 'तज्ज', 'तल्ल' और 'तदनिति' है अर्थात् उससे बनने वाला, उसीमें लय पाने वाला, उसी में साँस लेने वाला है। इस प्रकार से 'त्रैगुण्या-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (गीता २-४५) का आधार त्रिमूर्ति बनी। यही त्रिमूर्ति दत्तात्रेय कहलाई। जिसके नाम से बाद में तन्त्रों की रचना कही जाती है।

'त्रिमूर्ति' की कल्पना का यह आरम्भिक इतिहास हुआ इसी में आगे चलकर शांकर अद्वैत और मायावाद तथा बौद्धों का शून्यवाद आकर मिला। और तान्त्रिकों तथा शाक्तों का समाज-विद्रोह इसमें शामिल होकर अंततः एक अद्भुत प्रकार की कविता का जन्म हुआ, जिसे हिन्दी के निर्गुण काव्य की आरम्भिक रचना सिद्धों की कृतियाँ कहते हैं। इन प्रभावों का कुछ विस्तार से अध्ययन आवश्यक है।

: ४ :

उपनिषदों का 'पूर्णात्पूर्णमिदम्' यदि एक भरा हुआ शून्य है यानी° है, तो बौद्धों का शून्य उसी का खोखला ° रूप-मात्र है। आजकल की अस्तित्ववादी परिभाषा में यह तो वस्तु-सत्य को देखने के दृष्टिकोण-मात्र हैं। जो भरा हुआ है, वह खाली भी है। क्योंकि वेदान्तियों के मत से यह निरा 'अध्यास' है, दृग्भ्रम है। और बौद्धों के मत से यह केवल बिन्दुओं की शृङ्खला है।

वेदान्तियों का मायावाद बड़ा विकट है। 'माया महा ठगिनि हम जानी'। दार्शनिक बतलाते हैं कि माया एक किस्म की जादूगिरी है। जादू करके जादूगर उसमें नहीं फँसता, उसी तरह से यह माया है। 'यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यति इति' (शांकर भाष्य २।१।६)। 'निघंटु' में माया को 'प्रज्ञा' के ११ पर्यायों में से एक माना है। यास्क ने भी 'निरुक्त' में माया के इसी अर्थ में उदाहरण दिया है। 'यजुर्वेद' के ११ वें अध्याय के ६६वें मंत्र में 'आसुरी माया' शब्द आया है। इस पर उव्वट का और महीधर का जो भाष्य है उसमें भी माया को प्रज्ञा का समानार्थी माना गया है। 'ऋग्वेद' में माया शब्द ७५ बार और 'अथर्ववेद' में २७ बार आया है। उपनिषदों में यह शब्द नहीं आता; केवल 'बृहदारण्यक' में एक बार प्रयुक्त है 'इन्द्रो मायाभिःपुरुरूपईयते' (२।५।१६) अर्थात् 'इन्द्र मायाओं द्वारा पुरुरूप हो गया। वस्तुतः यह 'ऋग्वेद' का एक पूरा मन्त्र (६।४७।१८) ज्यों-का-त्यों उद्धृत है। मूल में जो 'माया' केवल बुद्धि या प्रज्ञा थी वह गौडपादाचार्य के समय आकर छल-कपट के अर्थ में कैसे हो गई? और मधुसूदनाचार्य ने 'पंचदशी' में यहाँ तक कह डाला कि—'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरोवुभौ' (श्लोक २३६) अर्थात् 'ईश्वर और जीव दोनों माया नामक कामधेनु के दो बछड़े हैं।' यहाँ आकर माया दुर्घट बन जाती है, वह अतर्क्य है—'न चोदनीयं मायायां' (१३७)। इस सम्बन्ध में 'अद्वैतवाद' ग्रन्थ में पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखते हैं कि यह बाद में जो माया को अर्थ दिया गया है वह बौद्धों का प्रभाव है। उन्हीं के शब्दों में—"हमारी अपनी धारणा यह है कि बौद्धों के माध्यमिक संप्रदाय के समय मायावाद ने जोर पकड़ा, यह लोग शून्यवादी थे। गौडपाद तथा शंकर ने, इसी वाद को कुछ थोड़ा सा उलट-पलटकर एक नया रूप दे दिया।" (पृष्ठ ११६)

सो बौद्धों के शून्यवाद का भी प्रभाव भारतीय काव्य के रहस्यवाद पर अवश्य पड़ा। माया का यदि इंद्रजाल अर्थ किया जाय तो जादू में तो लेने की वृत्ति अधिक होती है। एवलिन अंडरहिल ने अपनी 'मिस्टिसिज्म' पुस्तक में पृष्ठ ८४ पर लिखा है कि 'मैजिक वांट्स टु गेट, मिस्टिसिज्म वांट्स टु गिव' (जादू लेना चाहता है, रहस्यवाद देना।) बौद्धों का सारा धर्म आरम्भ में बहुत बुद्धिवादी था, तर्काश्रित था। बल्कि शंकराचार्य ने जहाँ 'तर्काप्रतिष्ठानात्' कहा, वहाँ

बौद्ध निरी श्रद्धा पर विश्वास नहीं करना चाहते थे। परन्तु आत्मा और परमात्मा दोनों के नकार के बाद बौद्धों के पास जन-साधारण में फैली भक्ति-भावना को, रागात्मक सहज विश्वास-वृत्ति को सन्तुष्ट रखने का मार्ग कोई नहीं था। अतः प्रतिक्रिया के रूप में निकले तन्त्रिकों के समाज की सुस्थिर नीति को अमान्य करने वाले विद्रोही वामाचार। इसमें उत्तर-शैव और उत्तर-बौद्ध मत का मिश्रण था।

इस प्रकार से तन्त्रवाद को प्रेरणा के स्रोतों में चतुर्थ और प्रमाणों में पंचम स्थान मिला। तन्त्रों के विकास का समय छठी-सातवीं शताब्दि है। 'तन्त्र' शब्द का मूलार्थ था जाला, लच्छी या गुत्थी। इसका उल्लेख ५०० ईस्वी के 'अमरकोश' में नहीं है—यानी ये बाद की रचनाएँ हैं। शंकर ने ६४ तन्त्रों का उल्लेख किया है। इनमें से उपलब्ध मुख्य तन्त्र ग्रन्थ हैं : 'तन्त्रकौमुदी', 'शक्तिसंगम', 'रुद्रयामल', 'कालिका', 'कुलार्णव', 'तन्त्रतत्त्व', 'महानिर्वाण' आदि। अन्तिम दो के अंगरेजी अनुवाद आर्थर एवेलौन ने किये हैं। ये तन्त्र दत्तात्रेय नामक ग्रन्थकार की रचनाएँ हैं। मोनियेर विलियम्स ने अपने ग्रन्थ 'ब्राह्मनिजम एण्ड हिन्दूइज्म' में कहा है कि 'वेद, शास्त्र, पुराण तो सामान्या स्त्री के समान हैं! यह रहस्यमय शैव विज्ञान एक कुलीना स्त्री के समान है।' वेदों को निगम मानकर तन्त्रों को आगम मानते थे। इनके रचयिता कुल्लूकभट्ट थे। इसमें दक्षिणाचार और वामाचार दो पंथ बने। वामाचार शूद्रों तक सीमित थे। बाद में पश्चिमी भारत के जैनियों ने अपने व्रतोत्सवादि उपचारों में तान्त्रिकों की कुछ विधियाँ लीं। ये विधियाँ नेपाल और तिब्बत तक जा पहुँचीं।

तन्त्रों में निष्कल और शकल ऐसे दो रूप ब्रह्म के बताए गए हैं, जो निर्गुण और सगुण के समानार्थी हैं। इनकी विधियों में मंत्रों का, अक्षरों का, बीज, यन्त्र, श्रीचक्र, कवच, मुद्रा आदि का बड़ा घटाटोप है। इनकी रहस्यवादी धर्म-विधि में जाति-पाँति या योनि का कोई अन्तर नहीं था; सती की प्रथा भी नहीं थी। एक प्रकार से बौद्ध-वेश में यह शैव-मत ही था। इसके सूत्र तिब्बती में मृद्स और तन्त्र 'र्ग्युद्' कहलाए। तिब्बती में सुरक्षित तन्त्र-ग्रन्थों में 'सद्धर्म-पुण्डरीक' और 'कारंडव्यूह' अर्थात् 'महायानसूत्ररत्नराज' हैं।

इन तन्त्रों के अधिक विस्तार में न जाकर भक्ति के प्रेम-मार्ग का और शैव-बौद्ध तन्त्रों का सूक्ष्म सम्मिश्रण आगे कैसा हुआ यह दर्शनीय है। हौपकिन्स 'जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी' के जुलाई १९११ के लेख में पृ०७३३ पर लिखते हैं कि—'भक्ति के प्रेम की परिणति सकाम वासना में भी होती है; ऐन्द्रिक रूप में भक्ति की जो व्यंजना हुई है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।' चैतन्य (१४८६-१५३४) के पन्थ में इस मधुररस की मुक्त प्रशंसा है। उस पन्थ में भक्त स्वयं कृष्ण रूप होकर अपना प्रेम उँडेलता है। चण्डीदास (१४वीं शती) का सहजिया पन्थ इन्हीं वामाचारी बौद्धों से प्रभावित पन्थ था। दिनेशचन्द्र सेन ने अपने 'बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर' में पृष्ठ ४४ पर लिखा है कि चण्डीदास की उक्ति है 'मित्रो सुनो! मुक्ति स्त्री के प्रति प्रेम द्वारा ही पाई जा सकती है।' L. de la Valle'e Poussin ने अपने फ्रांसीसी ग्रन्थ 'Bouddhisme : Opinions sur l' historie de la dogmatique' में पृष्ठ ४०३-५ पर कहा है कि "तन्त्रवाद का आधार ही इस सिद्धान्त पर था कि सब मायाओं में—जब कि सब-कुछ माया है—यह स्त्री नाम की माया सबसे दिव्य है, मुक्ति के लिए यह सबसे जरूरी है। 'स्त्री-पूजा' सर्वोच्च देवता की पूजा है। अतः उसमें कोई पाप या कलंक या बुराई नहीं है, सगोत्रीय के साथ

संभोग तक में।" अतः "आद्या काली की पंचमकारों से जो पूजा करता है या उसके ४०० नामों का जप करता है, उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है।" (महानिर्वाण-तन्त्र) इस प्रकार से शाक्त मत को भी रहस्यवाद में एक स्थान मिला।

डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल अपने 'निर्गुण काव्य-धारा' नामक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ के अंत में परिशिष्ट में तान्त्रिक प्रभावों पर नोट देते हुए कहते हैं कि गोरखनाथ ने तान्त्रिक प्रभावों को पूर्णतः छोड़ नहीं दिया था, परन्तु उनमें परिवर्तन अवश्य उपस्थित किया। उसके अनुसार योग-सिद्धि में बज्रौली के सहजौली-अमरौली दो रूप थे। इन्हीं का उल्लेख 'गोरक्षपद्धति' में पृष्ठ ५१ पर हुआ है—'पित्रोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां' इत्यादि। इन्हीं सब वीभत्स प्रक्रियाओं के कारण कबीर को शाक्त मत पसन्द नहीं था, वह उनका तिरस्कार करता था! परन्तु तान्त्रिक मत का एक अच्छा पहलू भी था जिससे निर्गुण सन्तों ने बहुत-कुछ सीखा। षट्चक्रों का सारा जगड्व्याल और आल-जाल निर्गुणियों को नाथ योगियों से मिला। इसकी विस्तृत व्याख्या डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'नाथ-संप्रदाय' में मिलती है। परन्तु नारी को पारस मानने की और मूल मानने की बात कनफटों में मिलती है: "नारी अंग कहँ पारस देहैं। आज्ञा माँगि शिष्य पहँ लइहैं।" और कबीर का पद है: "पारस पान बाल कहँ दीजे।···कामिनि कहँ पारस है सेवा।" तब धरमदास ने प्रश्न पूछा है:—

सकल नरक नारी ढिग कहिए।
सोई नरक गुरु कैसे चहिए।

इस प्रकार से 'अमर मूल' में कबीर ने 'पारस' का प्रत्यक्ष रूप दिया है। इसी का प्रभाव सिद्धों की कविताओं में भी मिलता है।

: ५ :

सिद्धों की कविता हिन्दी के आदिकाल के रहस्यवाद का प्रस्फुटन है उस समय के रहस्यवाद में और आजकल के थियौसाफी-ब्रह्मसमाज-प्रभावित रवींद्रिक रहस्यवाद में या महादेवी जी के औपनिषदिक रहस्यवाद के 'थेरीगाथा' की मारफत पुनर्स्मरण में या अरविन्दवाद में बहुत अन्तर आ गया है। इस परिवर्तन में ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का और विचार-धाराओं का प्रभाव हमें बराबर मिलता जाता है। अतः आधुनिक रहस्यवाद को समझने के लिए भी प्राचीन रहस्यवादी परम्परा का सुसूत्र अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

"ससीम ज्ञान, असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनन्त काल से कर रहा है, परन्तु उसमें शान्ति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिए ससीम हृदय उत्कण्ठा से निकला। यहीं रहस्यवाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है। भाव-प्राबल्य-जन्य तद्रूपशीलता में रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है। परन्तु काव्यगत रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से है हिन्दी रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है यह सभी मानते हैं। शुक्लजी का भी यही मत है।" (सद्गुरुशरण अवस्थी : विचार-विमर्श पृष्ठ ४-५)। इसी प्रबन्ध में वे आगे बोन साहब का मत उद्धृत करते हैं कि (१) दैवी भाव, (२) दैवी ज्ञान तथा (३) दैवी उपासना रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ है। काव्य-गृहीत रहस्यवाद पहली स्थिति की अभिव्यक्ति है। दर्शन और काव्य का

सूक्ष्म संयोग रहस्यवादी कविता में मिलता है। अलग-अलग रहस्यवादियों का अपना अलग-अलग दृष्टिकोण रहा है। जैसे मलिक मुहम्मद जायसी ने कहा था :

सुनि हस्ती कर नाँव, अँधरन टोवा धाय कै।
जेहि टोवा जेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

'हिन्दी-काव्य-धारा' नामक अमूल्य अपभ्रंश-काव्य-संकलन की भूमिका में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने धार्मिक और सांस्कृतिक अवस्था का जो विशद चित्र उपस्थित किया है, उससे पता चलता है कि सिद्धों में समाज-द्रोह की भावना बढ़ने के ऐतिहासिक कारण क्या थे। उनके शब्दों में : "बौद्ध धर्म चलाचली पर था, उसकी भीतरी कितनी ही कमजोरियाँ उसके हित-चिंतकों को मालूम होने लगी थीं, तो भी सबसे बड़ी कमजोरी—सामाजिक समस्या से हाथ खींच लेना—की ओर उनका ध्यान नहीं गया...मठों के अप्राकृतिक जीवन में जो बहुत सी बुराइयाँ बहुत भारी परिमाण में घुस आई थीं उन्हें देखकर कुछ विचारकों ने सोचा हमें इस ढोंग को हटाना चाहिए और मनुष्य को सहज-स्वाभाविक जीवन पर लाना चाहिए। सरहपा के वचनों से जान पड़ता है कि वह भोग-स्वातन्त्र्य को अस्वाभाविकता या अति में नहीं ले जाना चाहता था। उसने मन्तर-तन्तर, देवी-देवता पर भी ठोकर लगाए हैं। मगर जान पड़ता है भीतरी-बाहरी विरोध बहुत जबरदस्त था, सहज-मार्ग से पाखण्ड-मार्ग पकड़ना अधिक आसान था, इसलिए सरहपा का सहजभान हजारों मिथ्या-विश्वासों और ढोंगों के पैदा करने का कारण बना।" (पृष्ठ ३५)

इस प्रकार से सिद्धों के रहस्यवाद की कुछ मौलिक विशेषताएँ थीं—एक तो वे कविता के रूढ़ संकीर्ण लक्षणों को तोड़ रहे थे, उन्होंने सहज जीवन पर अधिक जोर दिया और दर्शन के उच्चवर्गीय रहस्यों को अतिसरलीकृत किया, जिसमें से 'अ-लख निरंजन' या 'बौद्धों के निर्वाण का ही विशेषण' निकला। वे पाखण्ड-मात्र के विरोधी थे। और वे घोर व्यक्तिवादी भी थे। इन बातों के कुछ उदाहरण सिद्धों की रहस्यवादी रचनाओं में से उद्धृत करता हूँ :

(१) आठवीं सदी के सरहपा ने कहा :

'मन्त ण तन्त ण छेअ ण धारण।'
'सब्ब वि रे बढ़ ! बिब्भम-कारण'

और

'आइ ण अन्त ण मज्झ णउ; णउ भव णउ णिब्बाण।'

नकार का स्वर कितना प्रधान है :

(२) स्वयम्भू की रामायण में एकाकीपन या व्यक्तिवाद का स्वर बहुत प्रधान हो उठा है :

एक्केण कणुव्वउ विहुरकाले। एक्केण सुयेव्वउ जरपयाले॥
एक्केण वसेव्वउँ तहि णिगोए। एक्केण रुइव्वउ पिय-विऊएँ।
एक्कहों जें पाउ एक्कहों जें धम्मु। एक्कहों जे मरणु एक्कहों जे जम्म।

(३) भुसुकपा, गुण्डरीपा, डोम्बिपा आदि नवीं सदी के सिद्धों में उल्टबतियाँ कहकर सुनने वालों को चमत्कृत करने की भी प्रवृत्ति है, जैसे यह कविता यदि आधुनिक मुक्तछन्द में लिख दें तो आप समझेंगे कि किसी 'सुररियालिस्ट' कवि की रचना है, परन्तु इसका मूल नीचे दिया जाता है वह भुसुकपा (शान्तिदेव), नालंदावासी की ८०० ईस्वी की रचना है :

रात अँधियारी है
सब ओर चूहे हैं।
बड़े-बड़े अमर कहलाने वालों को
कुतुर-कुतुर खा गये चूहे।
मारो रे मारो, जोगी हवा करो बन्द,
चूहों भरी हवा है।
आना जाना बन्द हो।
काले यह चूहे, हैं न बाल नहीं रंग,
आसमान से उड़े, पी गये सब अमृत
चूहे बहुत अंचल हैं चंचल हैं,
अच्छे उस्तादों ने जाना
तब ठंडे हुए।

(मूल : णिशि अंधारी मूसा करअ अचारा। अमिअ-भखअ मूसा करअ अहारा॥
मार रे जोइया! मूसा-पवना। जेण तूटइ अवणा-गवणा॥
काला मूसा उहण वाण। गअणे उठि करअ अमिअ पाण॥
तब्बे मूसा अंचल चंचल। सद्गुरु बातें करह सो निच्चल॥)

(४) अब मैं अपने अध्ययन में जो तीन नौकानयन-विषयक गीत मुझे मिले हैं और जो बिलकुल भिन्न देश-काल-परिस्थिति वाले हैं, उनमें रहस्यात्मकता का कैसा साथ है यह सिद्ध करने के लिए उन्हें प्रस्तुत करता हूँ। ८४० ईस्वी के डोम्बिपा का चर्यापद से राग धनसी है:

"गंगा-जमुना-माँझे बहइ नाई। तँह छुडिलि मातंगी पोइआ लीलें पार करेइ॥
बाहुतु डोम्बी बाहलो डोम्बी, वाट भइल उछारा। सद्गुरु-पाअ-पए जाइये पुनु जिनउरा॥
पाँच केडुआल पडन्ते माँगे पीठत काच्छी बाँधी। गअण-दुखोलें सिञ्चहू पाणी न पइसइ साँधी॥
चन्द-सूज्ज दुइ चक्का सिठि-संहार-पुलिन्दा। वाम दहिन दुइ भाग न चेवइ वाहतु छन्दा॥
कवडी न लेई, वोडी न लेई, सुच्छडे पार कराई। जो एथे चड़िया बाहब न जाइ, कूलें कूल बुड़ाई॥

इस अपभ्रंश-गीत से तेरहवीं सदी की सन्त कवि जनाबाई का यह मराठी पद तौलनीय है:

जहाज तारिलें तारिलें। शेवटीं उगमासी आले॥१॥
भाव शिडासी लाविला। नाम फरारा सोडिला॥२॥
कथा भरीयेले केणें। ध्यारे नका दैन्यवाणे॥३॥
एका मनाचा विसार। आधीं देउनि निर्धार॥४॥
कोण देतो फुकासाठीं। आर्तभूत व्हायें पोटीं॥५॥
आर्तभूत व्हा रे। जनी म्हणें केणें ध्या रे॥६॥

और 'अपलक' में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'अस्तित्व-नाव' देखिए:

'अपनी इस नौका में मैं ही हूँ एकाकी;
मेरे हाथों में हैं क्षेपणियाँ दुविधा की!
जीर्ण-शीर्ण वात-वसन, दुर्गति है नौका की;
ऐसी तरणी का हो क्यों न निम्न-दिशि बहाव!
बाहित अस्तित्व नाव।
...यह नौका-संचालन मेरा व्यवसाय नहीं।
नाविक होते हैं क्या मुझ-से निरुपाय कहीं?
तुमने मुझको फाँसा क्या यह अन्याय नहीं?
ले लो अपनी नौका, मुझसे क्या भाव-ताव?
लो यह दुस्तरित नाव!

: ६ :

सिद्धों की रहस्य-कविता के बाद निर्गुण काव्य-धारा और सूफी प्रभावों की संक्षिप्त चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी। इस विषय में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। परशुराम चतुर्वेदी, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा आदि के ग्रन्थों के साथ-ही-साथ चन्द्रबली पांडे का 'सूफीमत और तसव्वुफ' इस विषय के जिज्ञासुओं के लिए उत्तम संदर्भ-ग्रन्थ हैं। इनके साथ ही 'कल्पना' (१९५०) में प्रकाशित 'कविता और रहस्यवाद' नामक मेरा निबन्ध भी बहुत उपादेय होगा। निर्गुण सन्तों की प्रतीक-योजना, विशेषतः विरहिणियों के रूपकादि बहुत विचारणीय प्रश्न हैं। 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' नाम से मेरा एक विस्तृत लेख 'पारिजात' में निकला था।

नैहर और सुसराल के प्रतीक-संयोजन का एक संकलन सद्गुरुशरण अवस्थी ने प्रस्तुत किया है। कबीर में से कुछ उदाहरण देखिए:

'नैहर में दाग लगाइ आई चुनरी', 'मेरी चुनरी में परि गौ दाग पिया!', 'का लै नैनी समुर घर ऐबो।', 'आयो दिन गौने को मन होत हुलास।', 'खेल रे नैहरवाँ दिन चारि।', 'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।', 'तोंको पीव मिलेंगे, घूँघट के पट खोल रे!'

(१) मिलना कठिन है, कैसे मिलोगी पिय जाय!
समुझि-सोचि पग धरौं जतन से बार-बार डिगि जाय।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।
लोक-लाज, कुल की मरजादा देखत ही सकुचाय।

(२) 'दुलहिन गावहुँ मंगलाचार,
हमारे घर आये राजा राम भरतार!'

(३) बालम आओ हमारे गेह रे,
तुम बिन दुखिया केह रे!'

(४) चली मैं खोज में पी की। मिटी नहीं सोच यह जी की।
रहे नित पास ही मेरे। न पाइँ यार को हेरे।
कटी जब रैन की झाँई। लख्यो तब गगन में साँई।

कबीरा शब्द कहि भासा। नयन में यार को बासा।
छोड़े गेह-नेह लगि तुमसों, भइ चरनन लवलीन;
तालामेलि होत घर भीतर, जैसे जल बिन मीन।
सेजरिया बैरन भई हमको, जागत रैन बिहाय।
हम तो तुम्हारी दासी सजना, तुम हमरे भरतार।' इत्यादि-इत्यादि।

इन सब उदाहरणों में पर-पुरुष के प्रति प्रीति का बड़ा बखान है। अपने कई अकाट्य तर्कों के साथ चन्द्रबली पांडे ने अपने 'विचार-विमर्श' में कबीर को 'जिन्दीक' या आजाद सूफी माना है। उनके मत में कबीर वेश्या-पुत्र थे। 'ले राख्यो रामजनिया नाउ!' पूरबिला भरतार आदि के उदाहरणों से चन्द्रबली जी ने कबीर को 'लौह महफूज' में विश्वास करने वाला माना है। यह पर-पुरुष-रति परम पुरुष-प्राप्ति के निकट का मार्ग माना जाता रहा। और इसका जिक्र सभी सन्त कवियों में मिलता है। मराठी सन्त कवियों में एकनाथ और तुकाराम के भी ऐसे पद हैं जिनमें गोपी अपने-आपको 'मैं निर्लज्जा हो गई' कहती है।

'सौरी झालें सौरी सरवे! बाई। झालें त्याची नवरी॥' (ध्रुपद)
और 'सौरी झालों बाई!। लागलों संतापायीं॥'

यही भाव मीरा ने 'सन्तन ढिंग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई' में व्यक्त किया था। रहस्य-वादियों के साक्षात्कार में पूर्व तद्रूप, तद्रूप और पर-तद्रूप यह जो तीन अवस्थाएँ मिलती हैं वे और यह पर-रति भाव बहुत-कुछ सूफियों की देन है। कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में जो रहस्यवाद की झलक यत्र-तत्र मिलती है वह सूफी-मत का प्रभाव है। यही कबीर की अटपटी बानी कवीन्द्र रवीन्द्र द्वारा अँग्रेजी में पहुँचाई गई, और वही योरप के ब्लेक-ब्राउनिंग आदि के पुनर्संस्करण के साथ हिन्दी में नये रूप में अवतरित हुई। सूफियों के लिए तो 'पर्दे-बुतां' ही 'नूरे-खुदा' था।

सूफीवाद में अद्वैतवाद के प्रवाह लाने वाले प्रभाव बाहर के थे। खलीफ़ाओं के जमाने में बग़दाद और बसरे में कई बाहर के विद्वान् आकर बसे थे। भारतीयों के आयुर्वेद, रसायन, ज्योतिष आदि के ग्रन्थों के अनुवाद अरबी में हो चुके थे। अरस्तू के दार्शनिक अद्वैत का लोगों में बड़ा प्रभाव था। मुहम्मद बिन कासिम के जो वंशज सिन्ध में बस गए थे उनमें कुछ सूफ़ी भी थे। सिन्ध में आबू प्राणायाम की विधि जानते थे। उन्होंने ही 'फ़ना' की शिक्षा बयाजीन को दी। सूफ़ियों के सरताज दाराशिकोह के 'रिसाल-ए-हक़नुमा' में व्यवहृत 'नासूत', 'मलकूत' और 'जबरूत' तथा 'लाहूत' हमारे पारिभाषिक शब्द सत्, चित्, आनन्द के पर्यायवाची हैं। 'शरीअत', 'तरीक़त', हकीकत' और 'मारफ़त' भारतीय व्यवधान में उपासना, कर्म और ज्ञान-मार्ग का रूपान्तर था।

इसका एक कारण यह भी था कि यद्यपि अभिनव ईरान की पुनरुज्जीवित संस्कृति मुख से कुरआन के मन्त्र रटती थी, फिर भी उसके नेत्रों में अपनी अग्निपूजक परम्परा की अभिमानपूर्ण दीप्ति चमकती रहती थी। वैदिक-संस्कृति की यह युगांतर से भगिनी थी। दसवीं शती के फ़ारस के कवि दाकिकी ने कहा है : 'दुनिया में जो अनेक अच्छी और बुरी चीजें हैं उनमें सिर्फ चार बातें दाकिकी को सन्तोष दे सकती हैं—मूँगे की तरह लाल होंठ, बंसरी का करुणगान, आरक्त मदिरा और जरथुष्त्र का धर्म।' (एडवर्ड ब्राउन के फारस के साहित्येतिहास से) इसी चीज का

प्रभाव उमर खय्याम पर स्पष्टतः हमें दिखाई देता है। खैयाम ने तो यहाँ तक कहा है अपनी एक रुबाई में—"वे कहते हैं मुसलमान के लिए पीना उचित नहीं है। मैं पूछता हूँ मुसलमान को मैं कहाँ खोजूँ ?"

सुन्नियों ने ईरानी-दर्शन के धर्म-संशोधन को कूटनीतिक कारणों से बढ़ावा दिया। खलीफ़ा मामून के जमाने में स्वयम् को पाखंडी कह लेना एक फैशन बन गया। इसी से उसे 'अमीरिल् काफिरिन्' कहते थे। उनके मोतज़ला सम्प्रदाय ने सब चीजों पर सन्देह किया, धर्म की त्याज्य बातों का उपहास किया। 'इख्वान उस्साफ़ा' ने ज्ञान-संग्रह का कार्य किया। उसके इक्कावन प्रबन्धों का सूफियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। सगुणोपासना, अवतार, पुनर्जन्म, पुनरागमन आदि बातों के बीज मानों ईरान के रक्त में थे। जरा अनुकूल सन्धि मिलते ही हलुल्लिया, तनसुखिया, मज़्दकिया, खंदिया, खुर्रमिया आदि रूपों में वह बार-बार आगे आता रहा। आबू मुसलिम, बिहाफरीद, अलमुक़ाना, बाबक, सिंबाद, अल्-हल्लाज, अबदुल्ला, मैमून आदि 'प्रेषितों' का इतिहास यही बतलाता है कि बार-बार सिर कुचले जाने पर भी अवतरणादि तत्त्वों का पुनर्निर्माण होता रहा। इन सब पन्थों का उदय खुरासान में हुआ। अतः काज़्विनी ने 'अत्तरुल्-बिलाद' में इस स्थान को सन्त-भूमि कहा है।

उमरखय्याम की भावभूमि पर अद्वैतवाद का बड़ा प्रभाव है। जब वह लिखता है :

'The drop wept for his severance from the sea
But the sea smiled, for, 'I am all,' said he;
Yea, God is all in all, there's none beside,
But one point circling seems diversity'

तब श्रीमद्शंकराचार्य का पद-स्मरण होता है :

सत्यापि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
समुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

प्रायः इसी तरह की कल्पना महाराष्ट्र कवि सन्त ज्ञानेश्वर ने (१६—१६६) कही है : 'गंगा का प्रवाह समुद्र से जा मिलता है, पर राह में किनारे के पेड़ों का सिंचन भी करता है।'

प्रो० निकोलसन ने सूफ़ीवाद पर एक मार्मिक ग्रन्थ लिखा है। उनके अनुसार सूफ़ी सन्त आरम्भ में दरवेश थे और उन पर ईसाई-धर्म का बड़ा प्रभाव रहा है। उन्होंने ज्ञानवादियों से दैवी शक्ति के आभ्यन्तरिक ज्ञान की दीक्षा ली और बौद्धों से माला की। सूफ़ियों के चार विधान थे : (१) यात्रा, (२) आलोक और आनन्द (स्वीटनेस एण्ड लाइट से साम्य देखिए), (३) ज्ञान, (४) दैवी-प्रेम। इस प्रकार से सूफियों में दो बातों की मान्यता बहुत स्पष्ट है (१) परम तत्त्व चित् स्वरूप है (२) जगत् अध्यास-मात्र है। यही बात जायसी ने भी कही थी :

'देखि एक कौतुक हौं रहा, रहा अतरपट पैनहिं अहा।' इत्यादि।

निर्गुण सन्त कवियों की एक बात और थी। वे साधना-पक्ष पर अधिक जोर देते थे। वे वर्ण-भेद भी नहीं मानते थे। उनके लेखे उपनिषद् की यह बात बहुत अर्थ रखती थी—'न मेधया, न बहुधा श्रुतेन। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो!' नरसी मेहता का यह पद इसका साक्षी है :

'ज्यो लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहिं
त्यों लगी साधना सर्व जूठी।'

और उसी पद में :

'शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वद्ये,
शुं थयुं राग ने रंग जाणये ?
शुं थयुं खट दरशन सेव्या थकी,
शुं थयुं वरणना भेद आणये ?'

और यही बात तुकाराम ने अपने अभंगों में बहुत खोलकर कही है :

पवित्र तें कुल, पावन तो देश,
जेथें हरीचे दास जन्म घेती।
कर्म - धर्म त्याचे जाला नारायण,
त्याचेनि पावन, तिन्हीं लोकीं।
वर्ण-अभिमानें कोण जाले पावन,
ऐसे द्या सांगून, मजपाशीं।
अन्त्यजादि योनी तरल्या हरिभजनें,
तयांची पुराणें भाट झालीं।
वैश्य तुलाधार, गोरा तो कुंभार,
चांगा हा चांभार रोहिदास।
कबीर मोमिन, लतिफ मुसलमान,
सेना न्हावी आणि विष्णुदास।
कान्होपात्रा खोदु, पिंजारी तो दादू,
भजनीं अभेदू, हरीचे पायीं।
चोखामेला बंका, जातीचा महार,
त्यासी सर्वेश्वर ऐक्य करी।
यातायातिधर्म नाहीं विष्णुदासा,
निर्णय हा ऐसा वेदशास्त्रीं।
तुका म्हणे तुम्हीं विचारावें ग्रंथ,
तारिले पतित, नेणों किती।

इस प्रकार से निर्गुण-परम्परा पर और उसकी पारिभाषिक शब्दावली पर न जाने कितना लिखा गया है।

: ७ :

इस जाति-भेद को न मानने की बात को देखें तो पता चलता है कि सन्तों का कार्य एक अर्थ से प्रगतिशील कार्य था। सन्तों के काव्य को उसके सही ऐतिहासिक परिपार्श्व में देखना चाहिए। भौतिकवादी इतिहास-व्याख्याताओं ने भी विचारों का महत्त्व कम नहीं माना है। कार्ल मार्क्स ने हेगेल की न्याय-दर्शन मीमांसा में १८४४ में कहा था 'थियरी इटसेल्फ बिकम्स ए मैटीरियल फोर्स वेन इट टेक्स होल्ड आफ मैसेस' (अर्थात् जब कोई सिद्धान्त जन-मन पर हावी हो जाता है तो वह स्वयं एक भौतिक शक्ति बन जाता है।)

अंग्रेजी कविता के इतिहास में मिल्टन के बाद उत्तर-सत्रहवीं शती में कुछ कवियों का आध्यात्मिक कवि 'मेटाफिजीकल पोएट्स' कहा जाता है। परन्तु उनमें यद्यपि अन्य रहस्यवादी कवियों की-सी प्रतीक-संयोजना है, फिर भी वह शक्तिमत्ता नहीं है। वैसे 'पुराने टेस्टामेंट' में और सालोमन के गीतों में कई स्थानों पर शुद्ध रहस्यवादी गीति-काव्य के दर्शन हमें मिलते हैं। वैसे जॉन डॉन को भी कुछ आलोचक आरम्भिक रहस्यवादियों में गिनते हैं और स्त्री की चंचलता के विषय में उसकी उक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। जैसे :

And swear
Nowhere
Lives a woman true and fair

उसी प्रकार से मनुष्य की अशक्तता पर बार-बार डॉन कहता है :

O how feeble is man's power,
That if good fortune fall,
Cannot add another hour,
Nor a lost hour recall.

उसी प्रकार से मिल्टन की शुद्धिवादिता (प्यूरिटैनिज्म) से प्रभावित उनके समकालीन कवि क्रैशॉ (१६१३–१६४६) ने सन्त-तेरेसा के नाम और सम्मान में एक लम्बी कविता लिखी है जिसमें संसार की असारता का वर्णन है। क्रैशॉ में पाप की प्रायश्चित्त-भावना का मानसिक द्वन्द्व बहुत तीव्रता से व्यक्त हुआ है। पश्चिम का सारा धार्मिक रहस्यवाद इसी पाप-धावन और परिताप से उलझा रहता है। कॉवली, मार्वेल, वॉगॉन आदि अनतिख्यात कवियों में यही भावना अधिक है। बनायन का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' और विलियम ब्लेक के ऐसे गीत इसी के प्रमाण हैं। यथा :

O Rose ! Thou art sick !
The invisible worm
That flies in the night
In the howling storm,
Has found out thy bed
Of crimson joy;
And his dark secret love
Does thy life destroy.

ब्लेक ने अतिसरल, निगूढ़ कल्पना-चित्रों का प्रयोग किया है। इसी परम्परा में बाद में रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ ब्राउनिंग में और फ्रैंसिस टामसन में मिलती हैं। इधर टी० एस० इलियट की बाद की रचनाओं में और स्पेंडर-आडेन आदि की रेनर मारिया रिल्ले से प्रभावित कविताओं में नव्य-रहस्यवाद के दर्शन मिलते हैं। यह नव्य-रहस्यवादी स्वर भारत की सभी प्रौढ़ भाषाओं में नव-काव्य के रूप में उतर आया है। बंगला में बुद्धदेव बसु, मराठी में मर्ढेकर, हिन्दी में निराला और अज्ञेय ने उसे अलग-अलग रूपों में यानी प्रतीकवाद, सर्ववैफल्यवादी अतियथार्थवाद आदि रूपों में लाने का यत्न किया है।

हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादियों पर अंग्रेजी की रहस्यवादी परम्परा का प्रभाव तो है ही परन्तु उसके साथ ही रवीन्द्रनाथ का प्रभाव कम नहीं है। रवीन्द्रनाथ के ऐसे गीत यथा :

को तुँ हुँ

को तुँ हुँ बोलबि मोय !
हृदय-माह मझु जागति अनुखण,
आँख उपर तुँ हुँ रचलहि आसन,
अरुण नयन तब मरम संगे मम,
निमिख न अन्तर होय ।

वही पन्त जी के 'पल्लव' के 'मौन निमन्त्रण' बने और 'निराला' के 'परिमल' के गीतों के मूल उत्स ।

हिन्दी की आधुनिक कविता में वैसे सच्चा रहस्यवादी स्वर हमें 'निराला' और महादेवी वर्मा दो कवियों में ही मिलता है । 'निराला' के कई गीतों में और 'तुलसीदास' के मार्मिक स्थलों में वही वैराग्य का तीखा स्वर है, वही विराट्वादी सूक्ष्म अहंता है जिसने गेटे और इकबाल की कविता को स्थापत्य गुण प्रदान किया था । वैसे रामकुमार वर्मा-जैसे हृदयवादी कवियों ने और नास्तिक बच्चन ने खैयामवादी 'उस पार' वाली कविताओं में कहीं-कहीं ससीम असीम शब्दावली का, मुक्ति और बन्धन का, शून्य और पूर्ण का प्रयोग किया है । परन्तु वह सब झीना रहस्यवाद का आवरण-सा है । उसके मूल की रोमैंटिक वृत्ति झलके बिना नहीं रहती । माखनलालजी की आरम्भिक राष्ट्रीय कविता में भी 'मेरे आराध्य !' वाला रहस्यमय पुट है, विशेषतः उनके गद्यकाव्यों में वह रंग गहरा है । 'नवीन' जी में निहिलिस्ट प्रवृत्ति के बाद दूसरा स्वर यही 'क्वासि की अनुगूँज मेरी !' वाला है । मैंने कवियों की प्रणय और मरण-विषयक आसक्ति की विस्तृत विवेचना डॉ० राजेन्द्रप्रसाद को अर्पित अभिनन्दन-ग्रन्थ में 'कवि-स्वभाव' लेख में की है । इधर पन्त, सुन्दरम् , दिनकर आदि का अरविन्दवाद भी विशुद्ध रहस्यवाद नहीं, छायावाद पर रहस्यावरण-मात्र है । कन्हैयालाल 'सहल' ने अपने एक लेख 'गुञ्जन' में रहस्यवादी भावना के विषय में जो लिखा था, उससे इस चर्चा का अन्त करूँ :

"श्री इलाचन्द्र जोशी ने 'विजनवती' की भूमिका में लिखा है—"पन्तजी के 'पल्लव' में विशुद्ध रोमांटिक रस छलकता है, पर 'गुञ्जन' में उनका खिंचाव रहस्यवाद की ओर अधिक जान पड़ता है ।" किन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो जिस अर्थ में हम ब्लेक आदि कवियों को रहस्य-वादी समझते हैं, उस अर्थ में पन्तजी को रहस्यवादी नहीं कहा जा सकता । असल में जिसे रहस्यवाद कहकर 'गीतांजलि' के समालोचकों ने प्रशंसा की है, वह भाव हिन्दी के कवियों में सिर्फ महादेवी की कविताओं में ही पाया जाता है । आत्मार्पण की व्यग्र व्याकुलता, किसी की पद-चाप के प्रति उत्कर्ण उत्सुकता और एकान्त तन्मयता की दृष्टि से महादेवी की कविताएँ ही 'गीतांजलि' की जाति की हैं । यद्यपि हम न तो पन्तजी को ही प्रकृत रहस्यवादियों की श्रेणी में रख सकते हैं और न उनके काव्य को ही रहस्यवादी कहा जा सकता है, किन्तु फिर भी 'गुञ्जन' में रहस्यवादी भावनाएँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं, जैसा कि नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा ।

मनुष्य एक पथिक की तरह जन्म-जन्मान्तर की यात्रा कर रहा है । वह अनन्त के पथ पर अग्रसर होता ही चला जा रहा है :

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ।

यह समस्त जीवन ही विराट् नदी की अविच्छिन्न-अविरल धारा की तरह है। सूर्य की ओर देखो, कैसा सदा समुज्ज्वल और अनन्त यात्री है, जो एक बार अपनी यात्रा प्रारम्भ करके कभी नहीं थका। इसलिए हे यात्री! चलता चल :

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तंद्रयते चरन् चरैवेति ॥ (ऐतरेय ब्राह्मण)

सृष्टि की जड़-चेतन सभी वस्तुएँ मानो एक अज्ञात की ओर अनन्त यात्रा कर रही हैं। 'अथर्ववेद' के ऋषियों ने भी इसी औत्सुक्यपूर्ण जिज्ञासा से प्रश्न किया था :

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्संतीर्नेलयंति कदाचन ॥

अर्थात् वायु स्थिर क्यों नहीं रहती? मनुष्य का मन विश्राम क्यों नहीं लेता? क्यों और किसकी तलाश में जल दौड़ता रहता है और अपनी धारा को एक क्षण के लिए भी नहीं रोकता? वैदिक ऋषियों की इस अन्तिम उक्ति में और पन्त जी की जिज्ञासा में कितना साम्य है! रवीन्द्र की भी एक ऐसी ही उक्ति का अनायास स्मरण हो रहा है—

What lover thinks the sun flower with face upturned ?
What desire is born by the flowing stream ?

इस प्रकार की पंक्तियों का सौन्दर्य रहस्य के आवरण में ही है। 'ऋग्वेद' की 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसी पंक्तियाँ भी रहस्यमयी होने के कारण ही अमर हो गई हैं। भला जल में कौनसी इच्छा है, जिसके कारण वह लहराकर चंचल हो उठता है? कवि शान्त सरोवर को भी हृदय-सम्पन्न वस्तु के रूप में देखता है, तभी तो उसमें इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। यह कवि की भावुकता है। किन्तु वह इच्छा है कौन सी? इस प्रश्न में ही रहस्यवादी भावना सन्निहित है। सृष्टि की समस्त वस्तुएँ ही किसी अज्ञात से मिलने के लिए त्वरित गति से आगे बढ़ रही हैं। शान्त सरोवर का उर भी जब तरंगित हो उठता है तो मानो उसमें भी उसी अज्ञात से मिलने की आकुल अभिलाषा फूट पड़ती है :

सोए वीणा के सुर
क्यों मधुर स्पर्श से मर् मर्
बज उठते प्रतिपल प्रतिपल!

सोए वीणा के स्वर मधुर स्पर्श से मर्-मर् बज उठते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि वे क्यों बज उठते हैं? तन्त्री के तारों में नाद है—नाद के लिए तारों की झंकार की आवश्यकता है। एक के छूने से दूसरा छू जाता है। यही रहस्यवाद है।" हृदयरूपी वीणा के तार उस अदृश्य गायक की उँगलियों का स्पर्श पाकर झंकृत हो उठते हैं। उस अदृश्य गायक का पता रवीन्द्र को भी नहीं था, तभी तो 'अनसीन म्यूज़ीशियन' में उन्होंने लिखा है :

Who sweeps his fingers over my lyre with such power ?
I know not what great voice thinks with distracting music ?

बाजिलो काहार बीना मधुर स्वरे। आमार निभृत नव जीवन परे ॥
सीमार माझे असीम तुमि बाजाओ आपन सुर
आमार मध्ये तोमार प्रकाश ताई एतो मधुर।

सीमा के बीच में हे असीम! तुम अपना सुर बजाते हो, इसीलिए मुझमें तुम्हारा प्रकाश इतना मधुर होकर विराजा करता है।

महादेवी वर्मा की गीति-कविता में हमें रहस्यवाद की भारतीय परम्परा का परिवहन पूर्णतः मिलता है। उनके कई गीत 'थेरी गाथा' के गीतों की याद दिलाते हैं। विरह की इतनी उत्तम अभिव्यंजना कविता में बहुत कम पाई जाती है। 'रश्मि'-काल में उन्होंने कहा था :

चिर तृप्ति कामनाओं का
कर जाती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी
पल में विरक्ति जाती बन !
चिर ध्येय यही जलने का
ठंडी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर-सुख बन जाना !

यद्यपि यह शैली के स्कायलर्क की बहु-उद्धृत पंक्ति से प्रभावित पंक्ति जान पड़ती है, फिर भी उनके 'तुम दुख बन इस पथ से आना !' 'विरह की घड़ियाँ हुईं अलि मधुर मधु की यामिनी-सी,' 'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन' आदि मधुर गीतों का मूल उनकी इन्हीं आरम्भिक रचनाओं में है। डॉ॰ रामबिलास शर्मा को महादेवी के पीड़ा-पूजक रूप से अधिक आशावादी रूप प्रिय है; परन्तु महादेवी को जबरदस्ती भौतिकवादी नहीं बनाया जा सकता। वे हिन्दी-काव्य की रहस्यवादी परम्परा की अन्तिम 'शृङ्खला की कड़ी' हैं।

तात्पर्य रहस्यवादी कविता का अध्ययन भी उसके मानवतावादी, ऐतिहासिक पार्श्व में देखना होगा ! मार्क्स ने भी कहा था कि इतिहास का अध्ययन सब दृष्टियों से करना चाहिए : All history must be studied afresh, the conditions of existence of the different formations of society must be individually examined before the attempt is made to deduce from them the political,civil-legal, aesthetic, philosophic, religious etc. notions corresponding to them (Selected works : vol, I p. 320.)

२

जगदीश गुप्त

छायावाद

छायावाद की सुकुमार काव्यधारा को अपने जन्म से ही आलोचना की तीव्र दृष्टि सहनी पड़ी। उस समय उसकी भावभूमि इतनी अस्पष्ट थी कि नासमझी और रूढ़िवादिता के कारण स्वागत की अपेक्षा उसे परिहास, व्यंग्य, विरोध तथा संकीर्णता का निरन्तर सामना करना पड़ा। किन्तु द्विवेदी-युग की बाह्योन्मुखी अनगढ़ अनरस कविता की स्वाभाविक प्रतिक्रिया एवं परिणति होने के कारण छायावाद उन समस्त विरोधों के समक्ष अप्रत्याशित रूप से विजयी हुआ और उसकी अदम्य शक्ति, अभिनव सौन्दर्य तथा अतिशय सुकुमारता ने उस युग की सामान्य साहित्यिक चेतना को विमुग्ध कर लिया। कदाचित् इस विजयोन्माद तथा अन्य अनेक कारणों ने छाया-वाद की जिन गम्भीरतम आलोचना और नवीनतम व्याख्याओं की सृष्टि की वे भी उसकी वास्तविक भावभूमि को समझने में पूर्णतया सक्षम नहीं सिद्ध हुईं। अनेक गण्य-मान्य छायावादी कवियों तथा उन्हीं से प्रभावित कई आलोचकों ने उसे अध्यात्मवाद के भारी गौरव से अभिषिक्त कर दिया, जिसको साहित्यिक शब्दावली में रहस्यवाद और सर्वात्मवाद की संज्ञा मिली। यद्यपि इस प्रवृत्ति का भी विरोध हुआ और अनेक विचारशील विवेचकों ने वास्तविकता की स्पष्ट एवं निर्भीक व्याख्या प्रस्तुत की, परन्तु फिर भी उस गुरुता से छायावादी कविता आज तक मुक्त नहीं हो सकी है। अतएव मूल प्रश्न यह है कि छायावाद की वास्तविक भावभूमि लौकिक है अथवा अलौकिक। आध्यात्मिकता उसमें है या नहीं; यदि है तो स्वाभाविक वृत्ति के रूप में अथवा कृत्रिम आरोप होकर। रहस्यवाद से छायावाद को सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है, कहाँ तक अनुचित। और अगर है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य 'mysticism' की गूँज-मात्र।

छायावाद के सम्बन्ध में दो मत हिन्दी-जगत् में प्रचलित हैं, यह उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है। जो मत आध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनों की अभिन्नता का इस सीमा तक सांगोपांग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास नहीं हो पाता। फिर भी उसका संक्षिप्त परिचय पा लेना आवश्यक है। कवियों में मुख्यतः महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा तथा कुछ अंशों में प्रसाद को छायावाद की इस अध्यात्ममूलक व्याख्या का श्रेय है और आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, गंगाप्रसाद पाण्डेय तथा विश्वम्भर 'मानव' आदि को। जिन आलोचकों का नामोल्लेख यहाँ हुआ है उनकी कृतियों अथवा आलोचनाओं को महत्त्व दिया जाय या न दिया जाय परन्तु वे इसलिए तो महत्त्व रखते ही हैं कि उन्होंने इस मत का समर्थन एवं प्रचार किया।

इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होंने अपने विवेचनात्मक गद्य में पग-पग पर इसका समर्थन ही नहीं वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ़ परम्परा तथा व्यापक जीवन-दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है।

निम्नलिखित अंश उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिलाकर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"[१]

"हम यह समझ नहीं सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।

यह युग पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित और बंगाल की नवीन काव्यधारा से परिचित तो था ही, साथ ही उसके सामने रहस्यवाद की भारतीय परम्परा भी रही।"[२]

"अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी।

अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा।"[३]

"रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदों की विचारधारा में मिल जाते हैं।

"युगों के उपरान्त छायावाद के प्रतिनिधि कवियों ने भी इस विचारधारा का विद्युत् स्पर्श अनुभव किया और यह न कहना अन्याय होगा कि उन्होंने उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा।"[४]

यहाँ महादेवी जी ने स्वीकार किया है कि रहस्यवाद आत्मा का गुण होने के साथ-साथ काव्य का गुण भी है और छायावादी कवियों ने उपनिषदों के समय से चली आती हुई तथा जायसी और कबीर के द्वारा पोषित रहस्यवाद की परम्परा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की है। उनकी लौकिक लगने वाली अभिव्यक्ति वस्तुतः अलौकिक रहस्यानुभूति है क्योंकि अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होता है।

इतना ही नहीं, महादेवी जी ने छायावाद की निराशा एवं दुःख की मनोवृत्ति को व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद-मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि में स्थापित कर दिया जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है :

"छायावाद को दुःखवाद का पर्याय समझ लेना भी सहज हो गया है। जहाँ तक दुःख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो सकते हैं—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुणा भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओं से उत्पन्न विषाद।"[५]

"व्यक्तिगत सुख-दुःख की अभिव्यक्तियाँ भी मार्मिक हो सकीं पर छाया-युग के

---

१. 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृष्ठ ६०-६१.

२. वही, पृष्ठ १०७.

३. वही, पृष्ठ १११.

४. वही, पृष्ठ १४०.

५. वही, पृष्ठ ६५.

सर्ववाद से इस प्रकार प्रभावित है कि उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व मिलना कठिन हो गया।'[1]

इन दोनों से हटकर महादेवी जी ने छायावाद की एक तीसरी परिभाषा दी है और वह यह कि : छायावाद तत्वतः कृति के बीच में जीवन का उद्‌गीय है···।[2]

किसी भी विचारक की ईमानदारी में सन्देह करना अपराध है परन्तु महादेवी जी द्वारा दी गई छायावाद की व्याख्या को देखकर ऐसा अपराध करने को जी चाहता है। इसका कारण लेखक की रुचि न होकर स्वयं महादेवी जी द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के वे अंश हैं जो उक्त अंशों के स्वयं विरोधी हैं और घोषित करते हैं कि वास्तव से दूर जाने के प्रयत्न में किया गया यह तिहरा प्रयास अन्त तक सफल न हो सका, क्योंकि एक विचारशील पाठक आज भी उनकी व्याख्या से निस्संदिग्ध और संतुष्ट नहीं हो पाता। इस प्रकार की व्याख्याओं पर यह सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न है।

महादेवी जी ने अपने 'विवेचनात्मक' गद्य में ही छायावाद को जागरण-युग की सृष्टि और उसके अध्यात्म को बौद्धिक तथा रूढ़िगत अध्यात्म से भिन्न स्वीकार किया है।[3] उन्होंने यह भी निश्चित रूप से माना कि जिस सूक्ष्म को छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता।

मनुष्य का व्यक्त सत्य 'स्थूल' है और 'अव्यक्त सत्य'—अर्थात् 'कुछ होने की भावना' ही 'सूक्ष्म' है।[4] साथ ही यह 'सूक्ष्म' स्थूल का ही दूसरा रूप है। यह भी उन्होंने अस्वीकार नहीं किया कि छायावाद ने 'युगों से प्रचलित सस्ती भावुकता और वासना के विकृत चित्र' देने के स्थान पर उच्चतर रूप में परिष्कृत (वासना) वैयक्तिक उल्लास-विषाद की सफल अभिव्यक्ति की।[5]

इतना सब-कुछ मान लेने के बाद उनकी रहस्यानुभूति तथा उनके सर्ववाद और

---

१. वही, पृष्ठ ६६.

२. वही, पृष्ठ ६४.

३. (i) हमारे जागरण-युग ने जिस परिवर्तन को काव्य की रूपरेखा में स्पष्ट किया वह उसके पूर्वगामी युग में भी अशरीरी आभास देता रहा था। पृष्ठ ५४.

(ii) बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया···पृष्ठ ६०.

(iii) अखण्ड चेतना से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। पृष्ठ ११२.

(iv) छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर······ पृष्ठ ६६.

४. (i) छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हुआ; परन्तु उसकी सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण करना है। पृष्ठ ६७.

(ii) जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से इतने भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो स्थूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रखता। पृष्ठ ६८.

५. इस व्यक्ति-प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख-दुःख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे, अतः छाया-युग का काव्य स्वानुभूति-प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास-विषाद को अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका। पृष्ठ ६७.

अध्यात्मवाद में क्या शेष रह जाता है जिसके प्रतिपादन के लिए उन्हें इतना श्रम करना पड़ा। किसी भी तटस्थ विचारक को यह स्पष्ट हो जायगा कि महादेवी जी यद्यपि छायावाद की वास्तविक भावभूमि से पूर्णतया अवगत हैं तथापि उसे वैसे स्वीकार न करके अध्यात्मवाद अथवा सर्ववाद का अनावश्यक आवरण चढ़ाकर स्वीकार करने में उन्हें संकोचहीनता तथा सन्तोष का अनुभव होता है जो वैसे कदाचित् न होता। इस प्रकार की व्याख्या के प्रस्तुत किये जाने के मौलिक कारण वहीं हैं जिन्होंने छायावादी कविता में व्यक्त मानवीय भावनाओं को छाया का रूप दिया। छाया शब्द का यह अर्थ महादेवी जी को भी अग्राह्य नहीं है।[1] महादेवी जी यदि केवल अपनी व्याख्या को अपने काव्य तक ही सीमित रखतीं तो इतने विस्तार में उस पर विचार करने की आवश्यकता न होती परन्तु उन्होंने अपने विचार समस्त छायावादी काव्य के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं।

महादेवी जी के विवेचन में आने वाले अन्तर्विरोधों को छोड़ भी दिया जाय तो भी छायावाद की अलौकिकता निर्विरोध सिद्ध नहीं हो पाती, क्योंकि अन्य छायावादी कवियों का मत उनके विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में पन्त जी द्वारा दिया गया यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है :

'दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले हिन्दी-कविता छायावाद के रूप में ह्रास-युग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं-सम्बन्धी स्वप्नों, निराशाओं और समवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और संयोग-वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।'[2]

'प्रसाद' जी ने यद्यपि अपने काव्य में अनेक स्थलों पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्ततः छायावाद को उन्होंने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया और न प्रकृतिवाद से, वरन् ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति को छायावाद की विशेषताओं में स्वीकार करके एक प्रकार से उसका प्रतिवाद ही किया।[3]

'निराला' जी ने इस सम्बन्ध में अपना कोई स्पष्ट मत नहीं दिया परन्तु उनके काव्य में

---

१. स्वच्छन्द-छन्द में चित्रित उन मानव-अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है। पृष्ठ ६०.

२. आधुनिक कवि, भाग २ पृष्ठ १२.

३. ···हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिम्ब है; इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में लेकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमयता, प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।—काव्य-कला तथा अन्य निबंध

स्थल-स्थल पर मानवीय स्वर इतना प्रधान है और लाक्षणिक आवरण भी इतना झीना है कि उनके सम्पूर्ण काव्य की आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती।

छायावाद की प्रारम्भिक अवस्था में कविताओं पर आध्यात्मिकता की ध्वनि का आवरण पूरी तरह नहीं चढ़ पाया था अतएव प्रारम्भिक आलोचक शुक्लजी को उसकी वास्तविक भावभूमि परखने में भ्रान्ति नहीं हुई। उन्होंने लिखा:

'प्रणय-वासना का यह उद्‌गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इन्द्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से सम्बन्ध न रखने वाली कविताएँ भी छायावाद की कही जाने लगीं अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के सम्बन्ध में भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा।

'रीतिकाल की शृङ्गारी कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृङ्गारी कविता कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान अपनी कुछ अदा बदलकर फिर प्रायः सार काव्य-क्षेत्र छोड़कर चल रही है।'

किन्तु जहाँ इस प्रकार की तीव्र आलोचना शुक्लजी ने की वहीं छायावाद में कुछ अंश तक आध्यात्मिक प्रेम की सत्ता की साक्षी भी दी है:

'छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी यह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है।'

प्रसाद जी की तरह शुक्लजी की व्याख्या भी छायावाद के भावपक्ष को गौण और शैली-पक्ष को प्रधान मानकर चली है जब कि वास्तविकता यह है कि छायावादी कविता की भाव-सम्पत्ति को किसी प्रकार उसकी शैली की तुलना में अप्रधान नहीं ठहराया जा सकता।

शुक्लजी के अनन्तर अनेक आलोचक छायावाद की समीक्षा करने में प्रवृत्त हुए। आध्यात्मिकता के पक्ष के प्रायः सभी समर्थकों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महादेवी जी की विचार-धारा ने प्रभावित किया और कुछ दूर तक विरोधियों को भी तीव्र प्रतिवाद करने का आमन्त्रण दिया।

छायावाद की नई-नई परिभाषाएँ सामने आने लगीं और काव्य में आध्यात्मिकता की विविध अवस्थाएँ खोजी जाने लगीं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपना विचार व्यक्त किया कि 'छायावाद के मूल में स्थित आध्यात्मिक दर्शन के ही कारण नये भौतिकवादी उसमें दोष-ही-दोष देखते हैं।[1] अन्यत्र कहा गया कि 'विश्व की किसी वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी की भाँति विश्व के कण-कण में अपने सर्वव्यापक प्राणों की छाया देखता है। इसकी तीन अवस्थाएँ बताई गईं। पहली 'सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव', दूसरी 'मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास', तथा तीसरी 'प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति', इसी को छायावाद की चरम परिणति माना गया, जहाँ पहुँचकर छायावादी उसी

---

१. 'आधुनिक साहित्य' पृष्ठ ३४३.

ध्येय को प्राप्त करता है जिसे दार्शनिक एवं रहस्यवादी।[1] महादेवी जी के दीपक को आत्मा का प्रतीक मानकर 'दीपशिखा' तक आने के चार याम 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' को उनकी आध्यात्मिक रहस्यानुभूति की साधना के चार सोपान समझा गया।[2] इस प्रकार इस तरह की आध्यात्मिक व्याख्या ने साधारण पाठक को यह सोचने पर बाध्य किया कि छायावादी कवि एक असाधारण प्राणी होता है जो साधकों और सूफियों की तरह इस लोक को भूलकर किसी इतर सौन्दर्य-लोक में निवास करने वाले अव्यक्त, असीम, अज्ञात प्रियतम की खोज में निरत रहता है। उसका सारा काव्य इस लोक की ऐहिक आकांक्षाओं से सम्बन्ध न रखकर एक अलौकिक प्रेम-विरह की रहस्यानुभूति से सम्बन्ध रखता है और उसे सामान्य मानवीय अनुभूतियों के धरातल पर उतार लाना अनुचित एवं असंगत है।

छायावाद पर आध्यात्मिकता के जितने गहरे आवरण डालने के प्रयास इस ओर से हुए उनका उतना ही तीव्र प्रतिवाद दूसरी ओर से किया गया और कटु सत्य को निरावृत रूप में सामने लाने का आग्रह भी एक दूसरी सीमा पर पहुँच गया। कवियों में पंतजी ने छायावाद की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत की ही थी, डॉ० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान तथा डॉ० देवराज आदि आलोचकों ने भी नवीन-नवीन तर्कों के आधार पर आध्यात्मिक अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया और यह विचारधारा आज अपेक्षाकृत अधिक जीवित रूप में स्थित है।

डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद का आधार पहले 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह'[3] बताया फिर कदाचित् विद्रोह की वास्तविक प्रेरणा का अभाव देखकर अपनी शब्दावली को बदल दिया और फिर 'उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह'[4] कहना अधिक उचित समझा।

जहाँ तक छायावाद की भावभूमि का सम्बन्ध है उन्होंने उसे नितान्त लौकिक माना और लिखा कि 'छायावाद के कवि की प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं।'[5] इन कुण्ठाओं का कारण उनके अनुसार 'राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवादी दृढ़ नैतिकता, असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।'[6] 'वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की प्रवृत्ति' को उन्होंने छायावाद की मूल वृत्ति घोषित किया और उसकी रहस्यवादी प्रकृतिवादी आदि अन्य सभी प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की।[7] तथाकथित रहस्यानुभूतियों को तो स्पष्ट रूप से उन्होंने बौद्धिक जिज्ञासाएँ-मात्र माना, क्योंकि वे धार्मिक साधना

---

१. 'छायावाद : रहस्यवाद'—गंगाप्रसाद पाण्डेय, पृष्ठ २१.
२. 'महादेवी की रहस्य-साधना'—विश्वम्भर 'मानव', पृष्ठ ५२-५३-५४.
३. 'सुमित्रानन्दन पन्त'—पृष्ठ ३.
४. 'विचार और अनुभूति'—पृष्ठ ५३.
५. वही, पृष्ठ ५६.
६. वही, पृष्ठ ५३.
७. वही, पृष्ठ ५४.

पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिन्तन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित हैं।[1] शिवदानसिंह चौहान ने 'छायावादी कविता में असन्तोष की भावना' को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और उसकी समाजवादी पर्यालोचना करते हुए लिखा :

'छायावाद का कवि अपने भावों पर चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन देखता है। उसके मध्यवर्गी सुख-स्वप्न टूट चुके हैं। वह सामाजिक जीवन की चेतना को विकराल और भयानक पाता है। उसकी चेतना आज उसे ही काट रही है। पूँजीवाद की तरह उसकी चेतना भी आज मानवता का प्रतिनिधित्व नहीं करती। निदान इतना क्रन्दन-रुदन, इतनी निराशावादिता।'[2]

चौहान जी ने असन्तोष के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर भी विशेष बल दिया परन्तु पलायन छायावादी भाव-धारा का मौलिक आधार नहीं है, इस ओर नगेन्द्र जी तथा महादेवी जी दोनों ने ही संकेत किया है।[3] डॉ० देवराज ने निम्न शब्दों में उसका सतर्क प्रतिवाद किया है :

'वस्तुतः छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपों का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल में प्रेम और सौन्दर्य की वासना है न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।'[4]

छायावाद के पतन के हेतुओं का निर्देश करते हुए उन्होंने अन्यत्र छायावादी काव्य के आध्यात्मिक होने का भी प्रतिवाद किया है :

'प्रथम तो हम मानते हैं कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है, किन्तु यदि वह ऐसा होता तो भी इस धर्म-प्राण देश में जनता उससे इतनी जल्दी न ऊबती।'[5]

निष्कर्ष रूप में वे छायावाद की कल्पनाशीलता को उसके पतन का चरम हेतु स्वीकार करते हैं और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को अनुभूति-जन्य न मानकर कल्पना-जन्य मानते हैं। छायावाद के सम्बन्ध में उनकी कतिपय अन्य धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ :

'उसकी अभिरुचि का केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं, यह लोक है, परलोक नहीं।

छायावाद आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त,' पृष्ठ ५७.

२. 'प्रगतिवाद,' पृष्ठ ३७.

३. (i) आज के आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप में पलायन नहीं है।

—'विचार और अनुभूति', पृष्ठ ५४.

(ii)....तब हम कैसे कह सकते हैं कि केवल संघर्षमय यथार्थ-जीवन से पलायन के लिए ही उस वर्ग के कवियों ने सूक्ष्म भाव-जगत् को अपनाया।

—'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य,' पृष्ठ ७४-७५.

४. 'छायावाद का पतन,' पृष्ठ ६.

५. वही, पृष्ठ ९.

विद्रोह था।'[1]

'ऐतिहासिक दृष्टि से छायावाद-युग का वातावरण आध्यात्मिकता के उपयुक्त न था।'[2]

संक्षेप में पूर्व उल्लिखित मत की तुलना में यह मत अधिक वैज्ञानिक, अधिक बुद्धिगम्य तथा अधिक संगत एवं समीचीन प्रतीत होता है। छायावाद की भावभूमि का बहुत-कुछ यथार्थ रूप उक्त स्थापनाओं से प्रकट हो जाता है।

वस्तुतः छायावादी काव्य को आध्यात्मिक कहना लगभग वैसा ही है जैसा जयदेव के 'गीत-गोविंद' और विद्यापति के पदों को भक्ति-काव्य मानना। उसमें शृङ्गारिकता—न स्थूल सही सूक्ष्म ही सही—की मात्रा इतनी अधिक है कि किसी प्रकार उसकी लौकिक प्रेरणा को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी छायावादी कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं से लौकिक प्रेरणा का स्वर अलग पहचाना जा सकता है।

'रश्मि' और 'नीहार' की निम्नलिखित पंक्तियों में आधार की अलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता ही अधिक झलकती है :

(i) सजनि कौन तम में परिचित सा, सुधि सा, छाया-सा आता। 'रश्मि'

(ii) मेरे नीरस मानस में वे धीरे-धीरे आये। 'नीहार'

'आँसू' के प्रथम रूप में उतनी रहस्यवादिता न थी जितनी बाद के परिवर्धित रूप में आ गई। 'बाँधा था विधु को किसने उन काली जंजीरों से' अथवा 'मुख कमल समीप सजे थे दो किसलय-दल पुरइन के' से जिस सौन्दर्यमय व्यक्तित्व की ओर संकेत किया गया है उसके मिलन की अनुभूति न अतीन्द्रिय हो सकती है और न आध्यात्मिक। वह इतनी तीव्र अवश्य रही होगी कि उसकी अभिव्यक्ति 'कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा मिलन के' के द्वारा ही सम्भव हो सकी। पन्त जी की 'आम्रतरु' वाली कविता तथा निराला की 'जूही की कली' भी इसी बात का प्रमाण है कि छायावादी कवियों को प्रेरणा किसी अज्ञात प्रियतम से न प्राप्त होकर ज्ञात प्रियतम से ही प्राप्त हुई।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सूफियों में 'इश्क मजाजी' 'इश्क हकीकी' में परिणत हो जाता था उसी प्रकार छायावाद में लौकिक अनुभूतियाँ अलौकिक अनुभूतियों में परिणत हो गईं। अनेक भक्तों में भी लौकिक प्रेम अलौकिक रूप धारण करता देखा गया है। यहाँ पहले तो इश्क हकीकी या अलौकिक प्रेम-जैसी कोई वस्तु होती भी है इसी पर शंका होती है। यदि उसे स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी सूफियों और भक्तों में संसार के प्रति जो विराग-भाव मिलता है वह छायावादी काव्य में उपलब्ध नहीं होता। वास्तव में संसार की अस्थिरता तथा जीवन की दुःखमयता के प्रति सूफियों तथा भक्तों का दृष्टिकोण विरागात्मक है और छायावादी कवियों का रागात्मक। छायावादी काव्य का सूक्ष्म परिशीलन करने पर भी यह कहीं ज्ञात नहीं होता कि कब कवि ने लौकिक प्रेरणा को छोड़ा और कब अलौकिक को ग्रहण किया।

ऐसी दशा में तो यही सत्य प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक कविताओं में व्यक्त होने वाली ऐहिक आकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति रहस्यानुभूति के नाम से की गई। लोगों को भ्रम

१. 'छायावाद का पतन,' पृष्ठ १४.
२. वही, पृष्ठ १६.

लाक्षणिकता के सौन्दर्यमय आवरण के कारण हुआ जो आज भी सम्भव है। छायावाद के उत्तरांश में जिन कवियों ने उस लाक्षणिकता से अपनी भावनाओं को आवृत नहीं किया उनमें वास्तविकता ऊपर आकर बोल उठी। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, तथा अंचल आदि कवियों की कविताएँ इसकी साक्षी हैं। इस प्रकार छायावाद का आदि और अन्त दोनों ही उसकी आध्यात्मिक व्याख्या के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। आध्यात्मिकता का आरोप जिन कविताओं पर किया जाता है उनका वैसा प्रभाव नहीं पड़ता। व्यक्तिगत जीवन की सीमाओं को यह आरोप तिरोहित नहीं कर पाता। कविताओं में सर्वप्रमुख रूप से व्याप्त निराशा किसी भी कवि को कबीर-जैसी निर्भीकता से कहने नहीं देती :

हम न मरै मरिहैं संसारा।
हमका मिला जियावन हारा॥

और न रवीन्द्रनाथ के गीतों की तरह उनमें मुक्त उल्लास एवं आनन्द की ही अभिव्यक्ति है। छायावादी काव्य के निराशावाद को न तो हम सर्वात्मवाद की करुणा का रूप कह सकते हैं और न परमात्मा के वियोग में आत्मा की व्यथा। वह निश्चय ही लौकिक भावभूमि का प्रमाण है और उसकी समाजवादी व्याख्या बहुत-कुछ सही है। पाश्चात्य प्रभाव ने भी युग को बौद्धिकता की ओर मोड़ा, अध्यात्म की ओर नहीं।

भौतिकवाद को ही सब-कुछ न समझकर चेतन अथवा आत्मा पर विश्वास करने वाला व्यक्ति भी कह सकता है कि छायावादी कविता मन के स्तर से गहरी नहीं गई है। उसमें आत्मानुभूति है आत्मा की अनुभूति नहीं। छायावाद के अनुभूति-पक्ष की सीमा वहीं तक है जहाँ तक मन की गति है और दार्शनिक पक्ष की जिज्ञासा कुतूहल और विस्मय तक। छायावाद के विस्तृत काव्य-क्षेत्र में अनेक स्थल हैं जिनमें कवियों की वास्तविक जिज्ञासा व्यक्त हुई है :

(i) **न जाने नक्षत्रों से कौन।**
निमंत्रण देता रहता मौन—पन्त

(ii) **फिर विकल हैं प्राण मेरे,**
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है
जा रहे जिस पंथ से युगकल्प उसका छोर क्या है।
क्यों मुझे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे।
—महादेवी

ये तत्त्व छायावादी कवियों में न्यूनाधिक अंशों में अवश्य विद्यमान थे इसलिए प्रसादजी द्वारा 'कामायनी' (विशेष रूप से अन्तिम तीन सर्ग) रची गई, महादेवी जी ऋचाओं के अनुवाद की ओर प्रवृत्त हुईं, पन्तजी ने अरविन्द के आध्यात्मिक दर्शन से प्रभावित होकर 'उत्तरा' आदि अपनी नवीन कृतियाँ प्रस्तुत कीं और निराला ने 'अर्चना' में मध्यकालीन भक्त का स्वर अपनाया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समस्त छायावाद आध्यात्मिक भावभूमि पर स्थित समझा जाय। वस्तुतः यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों में छायावाद का युग समाप्त हो जाने के बाद परिलक्षित हो रही है और इसी से प्रमाणित होता है कि छायावादी काव्य आध्यात्मिक काव्य नहीं है।

छायावाद की भावभूमि को लौकिक रूप में ग्रहण करने के पक्ष में अपना मत देते हुए भी मैं एक बात कहना अत्यन्त आवश्यक समझता हूँ और वह यह कि मेरी दृष्टि में दोनों ही मत

वास्तविकता को कुछ-न-कुछ विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक आध्यात्मिकता के प्रतिवाद तथा वस्तु-सत्य की परख का सम्बन्ध है वहाँ तक तो मानसिक कुण्ठाओं के रूप में की गई व्याख्या ग्राह्य है, परन्तु छायावादी काव्य में व्यक्त भावों को प्रकृत रूप में न देखकर दमित वासनाओं और कुण्ठाओं के ही रूप में देखना उतना ही विकृत है जितना फूलों में खाद को देखना। फूल धरती के हैं वे आकाश-कुसुम नहीं हैं इतना ज्ञान ही पर्याप्त है। छायावादी काव्य में व्यक्त भावनाएँ भी इसी धरती की भावनाएँ हैं, उतनी ही सामान्य हैं जितना सामान्य मनुष्य। उनकी आध्यात्मिक व्याख्या करना मनुष्य को स्वर्ग-लोक का प्राणी कहना है।

दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही ग्रहण करना होगा। यदि यह कहने से हीनता व्यंजित करने का अभिप्राय हो तो मैं उसका प्रतिवाद करता हूँ। छायावादी काव्य का सौन्दर्य उसे मानवीय भावों की अभिव्यक्ति मानने पर किसी प्रकार कम नहीं होता। वैज्ञानिक तथ्य को वैज्ञानिकतया ही स्वीकार करना होगा। उसे छायावादी काव्य के मूल्यांकन में आवश्यकता से अधिक प्रश्रय देना भी उचित नहीं है।

३

श्रीमती विजय चौहान

प्रगतिवाद

: १ :

सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक-संघ के जन्म के साथ भारतीय भाषाओं के साहित्यों में भी मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव मुखर हो उठा। प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की बगल में और एक सीमा तक उसके विरोध में साहित्य का एक नया दृष्टिकोण सामने आया, जिसे आगे चलकर हिन्दी-साहित्य में 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारा गया। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से विभिन्न देशों के मार्क्सवादी आलोचक पिछली शताब्दी से ही जिस वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र की रचना करते आए हैं, 'प्रगतिवाद' वस्तुतः उसका ही भारतीय नामकरण है।

साहित्यालोचन के इस नये दृष्टिकोण ने अनेक तात्विक और व्यावहारिक प्रश्न उठाए हैं और अपने वस्तुवादी जीवन-दर्शन की सहायता से उनका विवेचन करके उनके समाधान भी उपस्थित किये हैं। साहित्य और कला क्या है, और मूल्यांकन की समस्या क्या है? इन दो मूल प्रश्नों तथा इनसे सम्बद्ध अनेक दूसरे प्रश्नों को उठाकर 'प्रगतिवाद' ने अपनी वैज्ञानिक स्थापनाओं से साहित्य-शास्त्र को नई दृष्टि दी है।

यह अलग बात है कि अनेक 'प्रगतिवादी' आलोचक अपने वक्तव्यों और विवेचनों में मार्क्सीय सौन्दर्य-शास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति का पालन नहीं कर पाए और विशेष स्थानीय प्रभावों के कारण उनकी आलोचना-दृष्टि पथ-भ्रष्ट होकर मूलतः फ्रांसीसी इतिहासकार 'टेन' (Hippolyte Taine) के सापेक्षतावादी सौन्दर्य-सिद्धान्त का अनुगमन करने लगी, जिससे प्रभाव ग्रहण करके रूसी विचारक प्लैखानोफ (Art & Society) ने साहित्य के सम्बन्ध में मार्क्सीय विचारधारा को कुत्सित समाजशास्त्रीयता के बीहड़ जंगल में भटका दिया था। इस कुत्सित समाजशास्त्रीय सापेक्षतावाद ने साहित्य और कला की कृतियों, शैलियों (तथा इससे भी अधिक, जन्म या सामाजिक स्थिति के आधार पर साहित्यकारों—कलाकारों) के वर्ग-आधार को ढूँढ निकालने में अपने आलोचक-कर्म की इतिकर्तव्यता समझ ली। बहुत दिनों तक मार्क्सवादी आलोचक इस बीहड़ जंगल में भटकते रहे और मार्क्स-लेनिन के कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों की उपेक्षा करते रहे। मूल्यांकन के नाम पर किसी कृति को मनमाने ढंग से 'सामन्ती', पूँजीवदी (बुर्जुआ) या प्रोलेतेरियन-जैसे तीन-चार खानों में ठूँस-ठाँसकर रख देना और कलाकारों को इनमें से किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधि घोषित कर देना ही उनके निकट सबसे महत्त्व का प्रश्न बन गया। एक लम्बे सैद्धान्तिक संघर्ष के बाद अन्य देशों के मार्क्सवादी विचारक अपने ही बीच के कुत्सित समाज-शास्त्रियों और उनके अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और कुरुचिपूर्ण दृष्टिकोण को नंगा कर देने में सफल हुए हैं, किन्तु अभी तक हिन्दी में 'प्रगतिवाद' के नाम पर कुत्सित समाज-शास्त्रीयता का ही बोलबाला है जिससे प्रगतिवाद के विरोधियों को उस पर गलत आरोप लगाने का अवसर

मिलता गया है।

और यह बात भी अलग है कि 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण से प्रभावित कवियों और कथाकारों ने हिन्दी में जो साहित्य रचा वह कला की दृष्टि से (जिसमें विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व अन्योन्याश्रित होते हैं) बहुधा उच्च कोटि का नहीं हो पाया। बल्कि यदि समग्र रूप से देखें तो रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र का यथार्थवाद और छायावादी कवियों की मार्मिकता भी इन रचनाओं में नहीं है। इसमें जो कोरी 'नारेबाजी का साहित्य' (!) नहीं है वह भी अधिकतर साधारण कोटि का ही है। उसमें जीवन-यथार्थ के ऊपर से प्रत्यक्ष दीखने वाले अंगों का ही यथा-तथ्य प्रकृत, (नैचुरलिस्टिक), रूप-रस-वर्ण-गन्धहीन, उथला-पुथला चित्रण है; जो युग-सत्य का उद्‌घाटन न करके उसे एकांगी और विकृत बना देता है। उसमें जिन पात्रों का चित्रण हुआ है वे प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) नहीं, बल्कि यन्त्रवत् लेखक की इच्छा-अनिच्छा पर उठने-बैठने-बोलने वाली कठपुतलियाँ हैं, जो सजीव न होकर विचारों और वर्गों की 'प्रतीक' हैं। इस नये साहित्य में नई विचार-वस्तु को अधिकतर ऊपर से ठूँसकर क्रान्तिकारिता का आभास पैदा किया गया है। वास्तव में उसमें नया कुछ भी नहीं है, वह विचारों को स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं देता और न भावनाओं को अधिक संवेदनशील, उदात्त और मानवीय बनाता है, क्योंकि उसमें यथार्थ का वेदन नहीं है। दुर्भाग्य से यशपाल, कृष्णचन्द्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन-जैसे प्रमुख कथाकार भी, अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण के बावजूद, इस ह्रासोन्मुखी कला-दृष्टि से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाए। उन्होंने भी यह प्रभाव देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों से ही ग्रहण किया है, जिससे वे अपनी कला-सम्बन्धी समस्याओं का सही सामाधान खोजने में एक सीमा तक असमर्थ रहे हैं।

परन्तु नये साहित्य में या प्रगतिवादी आलोचना में यदि ये विकृतियाँ आई हैं और किन्हीं कारणों से हमारे देश में आज भी नये साहित्यकार प्रकृत-चित्रण (नैचुरलिज़्म) और अधिकतर प्रगतिवादी आलोचक कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की ही ओर बरबस आकृष्ट होते हैं तो इससे 'प्रगतिवाद' के वास्तविक दृष्टिकोण और उसकी साहित्य-कला-सम्बन्धी स्थापनाओं का मूल्य किसी भी अंश में कम नहीं हो जाता। कुत्सित समाज-शास्त्रीयता की अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक और सापेक्षतावादी प्रवृत्ति केवल एक परिस्थितिजन्य सामयिक विकृति है, जिस प्रकार 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त और प्रतीकवाद, प्रकृतवाद, रूपवाद, चित्र-कल्पनावाद आदि की प्रवृत्तियाँ ह्रासोन्मुखी समाज की परिस्थितिजन्य सामयिक विकृतियाँ हैं। अन्ततः प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही विजयी होगा, क्योंकि वह ऐतिहासिक भौतिकवादी है और विश्व की श्रेष्टतम कला और साहित्य की परम्पराओं के सांगोपांग अध्ययन-विवेचन के द्वारा विकसित हुआ है और हो रहा है। इसके साथ ही हमारे यहाँ का प्राचीन काव्य-शास्त्र और उसके सिद्धान्त यद्यपि अपने में सम्पूर्ण दिखते हैं, किन्तु फिर भी न तो वे कला और साहित्य-सम्बन्धी उन मौलिक प्रश्नों का समुचित उत्तर ही दे सकते हैं जिन्हें 'प्रगतिवाद' ने उठाया है और न वे हमें प्राचीन अथवा आधुनिक साहित्य का सही-सही कलात्मक—अतः सामाजिक—मूल्य आँकने की पर्याप्त गहरी ऐतिहासिक तथा सौन्दर्यबोधिनी अन्तर्दृष्टि ही देते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन काव्य-शास्त्र में अब ऐसे तत्त्व नहीं रहे जो उपयोगी हों; या नया साहित्यकार अपनी कृति में रस और काव्यानन्द की सृष्टि न करके उसे नीरस बना दे और नया पाठक उसकी कृति

से मनोरंजन की अपेक्षा ही न रखे; या नये साहित्य के रूप-विन्यास और रचना-तन्त्र में अलंकार, वक्रोक्ति, गुण और ध्वनि आदि का कलात्मक समाहार निष्प्रयोजन समझा जाय; या नया आलोचक प्राचीन समीक्षा-शास्त्र की शब्दावली को त्यागकर सर्वथा नये शब्द-संकेत गढ़े। प्राचीन मनीषियों और विचारकों की देन के प्रति ऐसा नकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवाद का न था, न है। वस्तुतः प्रगतिवादी विचारकों का आरम्भ से ही यह दृष्टिकोण रहा है कि वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र का निर्माण तभी हो सकेगा, जब आदि काल से लेकर आज तक साहित्य-कला-सम्बन्धी जो अनुभव-सिद्ध और मूर्त्त सत्यान्वेषी उद्भावनाएँ होती आई हैं, उन सबका ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक व्यापक सौन्दर्य-सिद्धान्त के अन्तर्गत समाहार और समन्वय किया जाय।

सम्भवतः इसीलिए प्रारम्भ में 'प्रगतिवाद' ने अधिकतर वे प्रश्न ही उठाए जो आधुनिक जीवन और आधुनिक कला-साहित्य के विशिष्ट विकास ने अनिवार्य रूप से उपस्थित कर दिए हैं, और जिन पर वैज्ञानिक रीति से विचार करना आधुनिक विज्ञान और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण ने सम्भव बना दिया है। प्राचीन काव्य-शास्त्र के विवेचक आचार्यों के सम्मुख ये प्रश्न इस रूप में न उठे थे, न उनका वैज्ञानिक उत्तर दे सकना ही उस समय उनके लिए सम्भव था। ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन करके प्रगतिवादी सौन्दर्य-शास्त्र उन्हें किस रूप में और किस सीमा तक ग्रहण कर लेगा, इस बारे में मैं जल्दी ही कोई मत प्रकट करना उचित नहीं समझती। यद्यपि यह कह देना अवश्य निरापद होगा कि हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों ने अपने दायित्व को समझकर अभी तक गम्भीरता से प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन-विवेचन नहीं किया है।

: २ :

प्रगतिवाद की दृष्टि में स्वयं कला क्या है—इस प्रश्न का वैज्ञानिक समाधान पाना ही सबसे मौलिक समस्या है, क्योंकि और सब समस्याओं, जैसे वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला-निर्माण की पद्धति क्या है अर्थात् कला में विचार-वस्तु और रूप-तत्त्व का समन्वय कैसे होता है और कला किस प्रकार वास्तविकता (रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करती है, कला का सामाजिक प्रयोजन क्या है और वर्ग-समाज हो या वर्गहीन समाज, श्रेष्ठ कलाकार क्योंकर मानव-आत्मा का शिल्पी होता है और इस प्रकार समग्र मानवता का सजग सत्यान्वेषी पक्षधर बनता है तथा इस कर्तव्य से च्युत होकर वह किस प्रकार अपनी कला का ही हनन कर बैठता है आदि सभी समस्याओं का समाधान इस मौलिक प्रश्न के ही आश्रित है।

कला क्या है ?—इस प्रश्न के उत्तर अरस्तू और भरत मुनि के समय से साहित्य-कला के आचार्य देते आए हैं, किन्तु उनका उल्लेख यहाँ प्रासंगिक न होगा। मार्क्सीय ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से कला भी एक प्रकार की सामाजिक चेतना है, या कहें, कला सामाजिक चेतना का एक विशिष्ट रूप है जिसके माध्यम से मनुष्य का मानस सामाजिक वास्तव (सोशल रियलिटी) को प्रतिबिम्बित करता है। आदि काल से लेकर आज तक की कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर काल और हर युग में कला वास्तविकता या जगत् के मार्मिक बोध का ही साधन रही है। सामाजिक सम्बन्धों में पड़कर मनुष्य अपने चतुर्दिक् जगत् के बारे में क्या सोचता-समझता है और सक्रिय रूप से उसे कैसे बदलता है, कला के माध्यम से

उसने अपनी इस सामाजिक चेतना को ही अभिव्यक्ति दी है। सामाजिक चेतना का विशिष्ट रूप होने के कारण कला मनुष्य के सत्य का उद्घाटन करने और उसका बोध कराने का साधन है। मनुष्य का सत्य कोई निर्विकार, निराकार, निरपेक्ष, कालातीत वस्तु नहीं है जो अलग से प्रत्येक मनुष्य में निहित हो। वास्तव में बाह्य प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष-रत मनुष्यों के सामाजिक सम्बन्धों का सत्य ही मनुष्य का सत्य है। व्यापक अर्थ में मानव-जीवन के निरन्तर परिवर्तनशील समाज-सम्बन्धों को ही मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित करती है।

कलाकार मानवता के संघर्ष का अगुआ है, क्योंकि अधिक संवेदनशील प्राणी होने के कारण वह वास्तविकता के नित्य नये पहलुओं का उद्घाटन करता जाता है और मनुष्य के भाव-विचारों को नई स्फूर्ति, मनुष्य की चेतना को नई संवृद्धि देता हुआ मनुष्य को अधिक मानवीय और सौन्दर्यप्रिय बनाता जाता है। साहित्य और कला का यही प्रयोजन है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को भारतीय प्रतिबिम्बवाद का प्रतिरूप नहीं समझ लेना चाहिए। भारतीय प्रतिबिम्बवाद के अनुसार ब्रह्म बिम्ब है और जगत् उसका प्रतिबिम्ब। किन्तु मार्क्सीय भौतिकवादी दर्शन के अनुसार भौतिक जगत् या वास्तविकता ही बिम्ब है और मनुष्य का मानस या उसकी चेतना उसको प्रतिबिम्बित करके उसका बोध कराती है। साहित्य और कला भी वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है।

प्रगतिवाद के इस प्रतिबिम्बन के सिद्धान्त को किंचित् विस्तार से समझ लेना होगा। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध रूपगत प्रकृत चित्रण से नहीं है। अर्थात् श्रेष्ठ कला में वास्तविकता का प्रतिबिम्ब हू-बहू उसकी अनुकृति नहीं होता। प्राचीन काल में अफलातून, अरस्तू आदि ने प्रकृत की अनुकृति (इमीटेशन) को ही कला की सचाई की कसौटी माना था। किन्तु यदि ध्यान से देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि अनुकरण का सिद्धान्त वस्तुतः रूपवादी है और उसका 'यथार्थवाद' कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) तक ही सीमित है। यह वस्तु (ऑब्जेक्ट) का ज्यों-का-त्यों चित्रण कर देने का ही सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यदि एक युवती का चित्र है तो उसके नख-शिख का ज्यों-का-त्यों अविकृत खाका खींच देना ही कला की श्रेष्टता का प्रमाण माना जायगा। किन्तु प्रगतिवाद इस प्रकार के यथारूप-चित्रण को एकांगी ही नहीं कला की मूल प्रकृति के विरुद्ध भी समझता है। यद्यपि भौतिक जगत् (वास्तविकता) का अस्तित्व मनुष्य की चेतना पर निर्भर नहीं करता और उसकी स्वतन्त्र इयत्ता है—यानी विषयी (सब्जेक्ट या मनुष्य) से बाहर भी विषय (आब्जेक्ट-प्रकृति) की सत्ता है, लेकिन साथ ही यह भी निश्चित है कि मनुष्य भौतिक जगत् या वास्तविकता का अविच्छिन्न अंग है और इस वास्तविकता को बदलने, अपने अनुकूल बनाने के निमित्त विषयी रूप में हमारी संवेदनात्मक ऐन्द्रिक क्रियाशीलता का जो प्रतिबिम्ब हमारे मानस पर पड़ता है—उसी से चेतना का जन्म होता है। प्रकृति को बदलने, अपने अनुकूल बनाने वाली इस चिरकालिक क्रियाशीलता का एक अंग ही कला है। कला किसी शाश्वत या परिवर्तनशील प्रकृति की अनुकृति नहीं है कि विषय (ऑब्जेक्ट) के रूप में मनुष्य निस्संग और निर्विकार मन से उसका मनन-चिन्तन करते रहें; बल्कि वह जीवन की मार्मिक छवियों के द्वारा मनुष्य-समाज के यथार्थ-सत्य का प्रतिबिम्बन करती है। इसलिए प्रगतिवाद यथारूप अनुकृति को नहीं, 'यथार्थवाद' को कला की श्रेष्ठ कसौटी मानता है। यथार्थवाद को इसलिए कि उसका सम्बन्ध कला के रूप-तत्त्व से नहीं, बल्कि विचार-तत्त्व या विषय-वस्तु (कण्टेण्ट) से है। कलाकार

वास्तविकता के किसी विशिष्ट अंग या सत्य का उद्घाटन करने के लिए जिस विचार का प्रेषण करना चाहता है—कला के रूप-तत्त्व की समस्या उसे जीवन की मूर्त और मार्मिक छवियों के द्वारा पूरी तरह अभिव्यक्ति देने और उस विशिष्ट छवि का साधारणीकरण करके उसे सबके लिए अर्थ-वान् बनाने की समस्या है। अर्थात् रूप-तत्त्व किसी मूल-विचार (कण्टेण्ट) की अभिव्यक्ति और प्रेषण का ही माध्यम है। इतिहास साक्षी है कि प्राणवान् और श्रेष्ठ कला के निर्माताओं ने यथार्थ या वास्तविकता की किसी परिकल्पना को ही, मानव-जीवन के किसी सत्य या रहस्य को ही उद्घाटित करने के लिए मनोनुकूल रूप-विधानों का आश्रय लिया है। परियों की कथाओं, अन्योक्ति-विधानों और धार्मिक रचनाओं में भी यथार्थ-जीवन का देश-काल-सापेक्ष्य सत्य ही प्रति-बिम्बित हुआ है। यथार्थ केवल वही नहीं है जो प्रत्यक्ष दिखता है, सीधे तौर पर अनुभवगम्य है, अर्थात् जो वर्तमान में है। प्रकृति और मानव-जीवन (वास्तविकता) निरन्तर परिवर्तनशील है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी। कोई भी वस्तु आत्म-निर्भर नहीं है। असंख्य सीधे और परोक्ष सम्बन्धों-अन्तर्सम्बन्धों द्वारा अन्य वस्तुओं से जुड़ी हुई है। इसलिए वास्तविकता के यथार्थ को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का तात्पर्य यह है कि कलाकार जिस केन्द्रीय विचार को अभिव्यक्ति देना चाहता है उसका वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण, अन्तरंग और मूर्त्त चित्रण करे ताकि वह केन्द्रीय विचार अपने समस्त अन्तर्सम्बन्धों के साथ उद्घाटित हो जाय। श्रेष्ठ कला के निर्माण की यही प्रणाली है, और कोई नहीं। प्रेमचन्द ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को श्रेयस्कर माना था। प्रकृतवाद या यथार्थ के फोटोग्राफ़िक हू-बहू चित्रण को अक्सर 'यथार्थवाद' की संज्ञा दी जाती रही है, क्योंकि इस प्रकार केवल कला के रूप-तत्त्व (फॉर्म) से ही उसका सम्बन्ध जोड़ देने से उस पर सहज ही आक्रमण किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने इसीलिए 'यथार्थवाद' के साथ 'आदर्शोन्मुखता' का संयोग किया था, क्योंकि एक श्रेष्ठ कलाकार होने के नाते वे केवल वास्तविकता के उस रूप से ही सन्तुष्ट न थे जो 'है' बल्कि उसके सत्य का उद्घाटन करने के लिए यह दिखाना भी जरूरी समझते थे कि वह 'क्या था' और क्या होने वाला है या 'होना चाहिए।' वास्तव में यही 'यथार्थवाद' है, क्योंकि वास्तविकता गतिशील है। हमारे एक प्रगतिवादी (या कुत्सित समाज-शास्त्री) आलोचक[1] हैं, जो इस बात को न समझ पाकर 'आदर्शोन्मुख' शब्द का प्रयोग करने के लिए प्रेमचन्द पर ही पिल पड़े। उन्होंने इस बात का भी ध्यान न रखा कि दार्शनिक विचार-धारा के रूप में 'आदर्शवाद' का जो अर्थ है, साधारण प्रयोग में 'आदर्शवाद' का अर्थ उससे सर्वथा भिन्न है। एक जगह आदर्शवाद का अर्थ अध्यात्मवाद है तो दूसरी जगह उसका अर्थ कोई मानवीय नैतिक-सामाजिक लक्ष्य-मात्र है। प्रेमचन्द ने इस दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया था, क्योंकि वे सम्भवतः यह न जानते थे कि 'यथार्थवाद' के अन्दर यथार्थ जीवन की सम्भावनाएँ भी निहित हैं। उदाहरण के लिए 'वर्गहीन साम्यवादी समाज' की ओर इतिहास प्रगति कर रहा है तो वह हर देश की शोषित-पीड़ित मानवता का लक्ष्य भी है, और आदर्श भी। इसलिए एक सच्चा कलाकार जब वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता है तो यथार्थ रूप में, अर्थात् दैनन्दिन जीवन में जो-कुछ साधारणतः घटित होता रहता है उस सबको ज्यों-का-त्यों नहीं चित्रित कर देता, बल्कि ऐतिहासिक सम्भावना की दृष्टि से यथार्थ के सत्य को उद्घाटित करने के लिए जो भी सारपूर्ण हैं, प्रासंगिक हैं, केवल उन्हीं अंगों का चयन

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा—देखिए उनकी पुस्तक 'प्रेमचन्द'

करता है। वस्तुतः कला की भाषा जीवन और इतिहास की भाषा होती है।

मनुष्य की चेतना के विशिष्ट रूप होने के नाते कला और विज्ञान दोनों ही भौतिक जगत् को प्रतिबिम्बित करते हैं और सत्य का बोध करने के साधन हैं। मनुष्य की चेतना निरपेक्ष सत्य (एब्सोल्यूट ट्रुथ) का बोध प्राप्त करने में समर्थ है—निरपेक्ष सत्य सापेक्ष्य सत्यों के समाहार का ही परिणाम होता है। इससे यह दोनों बातें सिद्ध हैं कि (१) वास्तविकता में मूलतः कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसको मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बित नहीं कर सकती और उसे 'नेति-नेति' की आर्त्त घोषणा करनी पड़े तथा (२) अपने सक्रिय जीवनानुभव और ज्ञान की सहायता से मनुष्य की चेतना वास्तविक जगत् को प्रतिबिम्बित नहीं करती तो वह निस्सार, शून्य और खोखली ही बनी रहती है। इससे स्पष्ट है कि कला और विज्ञान, जो वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, यदि ऐसा न करते होते या न करें तो वे अर्थवान् नहीं बन सकते। 'कला के लिए कला' के नाम पर केवल रूप-तत्त्व को प्रधानता देने वाले जो अनेक प्रवाद खड़े किए जाते रहे हैं, उनकी निरर्थकता स्वयं-सिद्ध है।

कला और विज्ञान यद्यपि इस जगत् और जीवन की वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करते हैं, परन्तु दोनों की प्रतिक्रियाएँ भिन्न हैं। विज्ञान 'विचारों' के रूप में वास्तविकता का बोध कराता है तो कला मार्मिक और अर्थवान् छवियों या जीवन-चित्रों के रूप में। विज्ञान अलग-अलग (विशिष्ट) तथ्यों का निरीक्षण करके उनके आधार पर सामान्य नियमों की खोज करता है, क्योंकि इन नियमों की जानकारी बाह्य प्रकृति को बदलने, नियन्त्रित करके अपने लिए उपयोगी बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मनुष्य की समस्त क्रियाशीलता का आधार और उत्तरोत्तर प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से उसकी मुक्ति का साधन बनती है। इसके विपरीत कला विचारों की अमूर्त्त भाषा में नहीं बल्कि अर्थवान् मार्मिक छवियों या जीवन-चित्रों की भाषा में वास्तविक जगत् में होने वाली घटनाओं या उनमें भाग लेने वाले मानव-चरित्रों के सक्रिय, अन्तरंग और वैविध्य-पूर्ण चित्र अंकित करके और उनके ही माध्यम से सामान्य या प्रतिनिधि रूपों का उद्घाटन करती है। तात्पर्य यह कि विज्ञान यदि विशिष्ट तथ्यों को अमूर्त्त विचारों द्वारा सामान्य (जनरल) के रूप में उपस्थित करके उनकी इयत्ता को सिद्ध और प्रमाणित करता है तो कला सामान्य विचारों और धारणाओं को मूर्त्त, व्यक्ति-चित्रों के रूप में अंकित करती है जिससे अपने गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के साथ वस्तुओं, घटनाओं और व्यक्तियों की निश्चित, मूर्त्त और विशिष्ट छवियाँ दर्शनीय और संवेदनीय हो उठें। कला इस प्रकार विशिष्ट के माध्यम से साधारण (रवीन्द्रनाथ के शब्दों में ससीम में ही असीम) की उपलब्धि कराती है।

इसके अतिरिक्त कला और विज्ञान में एक और उल्लेखनीय भेद है। विज्ञान का कोई सिद्धान्त या उसकी कोई भी स्थापना उससे अधिक व्यापक और प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त या स्थापना द्वारा रद की जा सकती है, किन्तु कला के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक कला-कृति अपने-आपमें सम्पूर्ण, अविभाज्य इकाई होती है और इसी रूप में इतिहास में अमर होती है। यह ठीक है कि देश-काल की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में लोग उससे भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रभाव ग्रहण करते हैं, लेकिन उसकी प्रेरणा देने की शक्ति अपनी सम्पूर्णता और अविभाज्यता में ही निहित है। कला के क्षेत्र में नये प्रयोगों और नई कृतियों के निर्माण से उसका सौन्दर्य या सत्य नष्ट नहीं हो जाता कि उसे रद्दी की टोकरी में फेंक दिया जाय। उदाहरण के लिए पृथ्वी के चारों

ओर सूर्य घूमता है—किसी युग के विज्ञान की यह स्थापना चाहे गलत सिद्ध होकर आज व्यर्थ हो गई हो, लेकिन वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास के काव्य-ग्रन्थ या अजन्ता के चित्र इतने युग बीत जाने पर भी व्यर्थ और निरर्थक नहीं हुए, न कभी होंगे। इतना ही नहीं, यदि एक ही विषय को लेकर बहुत कलाकार रचना करें तो उनकी कृतियाँ एक-दूसरे से सर्वथा मौलिक हो सकती हैं और वास्तविकता के विविध पहलुओं का उद्घाटन कर सकती हैं और उन सब रचनाओं से मानव-संस्कृति समृद्ध हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कला में अनन्त वैविध्यशालिनी वास्तविकता का कल्पनाजन्य, संवेदनात्मक प्रतिबिम्बन होता है, और वास्तविकता की ही तरह कला-कृति का निर्माण व्यक्ति-छवियों के अन्तर्सम्बन्धों और क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही होता है।

कला और विज्ञान के इन भेदों को इससे अधिक आगे बढ़ाकर देखना उचित न होगा, क्योंकि वैज्ञानिक या कलात्मक चेतना का सामान्य माध्यम मनुष्य के इन्द्रियज-संवेदन ही हैं जो बाह्य वास्तविकता का बिम्ब ग्रहण करके उसे पुनः प्रतिबिम्बित करते हैं। अर्थात् इस द्वैत की कल्पना कर लेना एक प्रवंचना को जन्म देना होगा कि कला की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के भाव हैं और विज्ञान की विषय-वस्तु केवल मनुष्य के विचार हैं—एक की सत्ता भाव-पक्ष तक सीमित है और दूसरे की सत्ता केवल बुद्धि-पक्ष तक। इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि कला में विचार-वस्तु होती ही नहीं, उसके द्वारा मनुष्य चेतना के तल पर वास्तविकता का बोध नहीं करता, बल्कि ऐन्द्रिक संवेदनों के तल पर ही उसकी अनुभूति करता है। प्रगतिवाद कलाकार की सृजन-प्रक्रिया तथा कला-कृति दोनों के लिए ऐन्द्रिक-संवेदनों तथा अनुभूति के आत्यन्तिक महत्त्व को तो स्वीकार करता है लेकिन इस अनिवार्य माध्यमिक तत्त्व को कला का मूल तत्त्व या सार तत्त्व नहीं मानता। प्रगतिवाद के अनुसार ये प्राथमिक कोटि के सहज संवेदन और अनुभूतियाँ मनुष्य के लिए तभी अर्थवान् और सुन्दर बनती हैं, जब वे पाशविक धरातल से ऊँची उठकर मानवीय बन जायँ, अर्थात् वास्तविकता के किसी सत्य को मूर्त्त अभिव्यक्ति दें।

कला की समस्या, इसीलिए, अर्थवान् और मार्मिक छवियों के माध्यम से वास्तविकता का सारपूर्ण चित्रण करने की समस्या है। विचार-वस्तु (कण्टेण्ट) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के केवल सारपूर्ण प्रसंगों और तत्त्वों को ही चयन करके उपस्थित किया जाय, न कि इन्द्रिय-बोध से जो कुछ भी दिखाई दे, उस सबकी हू-ब-हू नकल उतारी जाय। रूप-तत्त्व (फार्म) की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि वास्तविकता के इन सारपूर्ण प्रसंगों को सजीव ढंग से, उनके गुण और चारित्रिक विशेषताओं के साथ चित्रित किया जाय, ताकि वे सबके लिए अर्थवान् हो जायँ। कला के रूप-तत्त्व की समस्या विचार-वस्तु की अपेक्षा में ही कोई अर्थ रखती है। कलाकार का जो 'विचार' है, उसे वह कैसे कलात्मक रूप में व्यक्त करे कि वह सबके लिए प्रेषणीय बन जाय। प्रगतिवाद साधारणीकरण के प्रश्न को इस रूप में ही पेश करता है।

कलाकार मर्म-छवियों के माध्यम से ही अपने विचार को मूर्त्त और कलात्मक बनाता है, इसलिए इस मर्म-छवि को पहले समझ लें। मर्म-छवि क्या होती है ? मर्म-छवि वास्तव में विशिष्ट और सामान्य (पर्टीक्युलर और जनरल) की इकाई होती है। 'यह गुलाब का फूल है' —इसमें व्यक्तिवाचक और जातिवाचक दोनों संज्ञाओं का द्वन्द्वात्मक योग है। वस्तुतः दोनों ही एक हैं। विशिष्ट में ही सामान्य है। सामान्य विशिष्ट में है और उसी के द्वारा है। हर सामान्य विशिष्ट का ही एक अंग या पहलू होता है। प्रत्येक विशिष्ट असंख्य सूत्रों द्वारा दूसरे

विशिष्टों से सम्बद्ध होता है। विशिष्ट और सामान्य परस्पर-विरोधी हैं, अर्थात् उनका आन्तरिक संघर्ष नित्य है। उन दोनों में एकता स्थापित होती है, पर यह एकता अस्थायी, सापेक्ष्य परिस्थितिजन्य और अनित्य होती है। यह वास्तविक जगत् का नियम है। कला की दृष्टि से मर्म-छवि का अर्थ यह है कि कलाकार अपने चित्र में विशिष्ट और सामान्य की इस क्षण-कालिक, सापेक्ष्य तथा परिस्थितिजन्य एकता को चिरकाल के लिए अंकित कर देता है जिससे यह चित्र पाठक या दर्शक को सन्तोष प्रदान करता है। लेकिन यह चित्र तभी अर्थवान् और सम्पूर्ण बनता है जब वह इन परस्पर-विरोधी तत्त्वों के चिरन्तन संघर्ष को भी साथ ही उद्घाटित करे, ताकि उसकी कला-कृति सन्तोष प्रदान करने के साथ ही विचारोत्तेजक भी हो, और मनुष्य को इन दोनों तत्वों की और भी गम्भीर तथा सारपूर्ण एकता स्थापित करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दे। उदाहरण के लिए उपन्यास साहित्य में मर्म-छवि का अर्थ होगा ऐसे सजीव, विशिष्ट मानव-पात्रों की सृष्टि करना, जिनसे वास्तविक जीवन की आभा विकीर्ण होती हो, जो केवल कठपुतली पात्र न हों, अर्थात् उन व्यक्ति-पात्रों के चरित्र, उद्योग और उनकी नियति में मानव-जीवन की वास्तविक नियति पूरी तरह अन्तर्निहित हो, जिससे वे अपनी विशिष्टता में ही सामान्य के प्रतिनिधि मानव-चरित्र (टाइप) बन सकें। प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट पात्र—युधिष्ठिर, दुर्योधन, अर्जुन, द्रोपदी, कृष्ण, भीष्म, कर्ण, राम, भरत, रावण, सीता, दमयन्ती आदि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, मौलियर, बालजक, तालस्ताय, गोर्की, रवीन्द्र, शरत्, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के अनेक पात्र ऐसे ही प्रतिनिधि मानव-चरित्र हैं जो मनुष्य के साहस, औदार्य, प्रेम, न्याय, सौन्दर्य, हीनता, असमंजस, भीरुता, नृशंसता, कायरता आदि के देश-काल सापेक्ष्य गुणों और चारित्रिक विशेषताओं के प्रतीक हैं। अपने सीमाबद्ध जीवन की परिस्थितियों से उनका संघर्ष मनुष्य के ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष का प्रतीक है। इसीलिए उनके हर्ष-विमर्ष, सफलता-असफलता, उत्साह-निराशा में प्रत्येक पाठक न्यूनाधिक मात्रा में अपने विशिष्ट जीवन और भाग्य की समस्याओं की झलक पा लेता है। इस प्रकार कला में साधारण (जनरल) का चित्रण व्यक्ति-पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से ही होता है। बाह्य-जीवन की निश्चित परिस्थितियों से जूझते हुए व्यक्ति-विशेष की निश्चित मनःस्थितियों और भाव-विचार-प्रतिक्रियाओं का उद्घाटन ही 'साधारण' (जनरल या कलाकार के मूल विचार) को इस योग्य बनाता है कि पाठक या दर्शक उसकी सचाई पर विश्वास कर ले और उससे स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण कर सके।

कला-कृतियों के रूप में या उनके द्वारा ही हम कला का साक्षात् करते हैं। कला-कृतियों के निर्माता कलाकार होते हैं। प्रगतिवाद सच्चे कलाकार को अर्थात् उसे जिसने वास्तव में अमर कला-कृतियों की रचना की है या जो आज भी कर रहे हैं) मानव-आत्मा का शिल्पी मानता है, क्योंकि कला और साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपनी रची श्रेष्ठ और अमर कला-कृतियों द्वारा इन कलाकारों ने, वे चाहे जिस वर्ग या समाज, देश या काल में क्यों न पैदा हुए हों, समग्र मानवता की संस्कृति को समृद्ध किया है और मनुष्य को अपने दैनंदिन जीवन की क्षुद्रताओं और सीमाओं से ऊपर उठकर अधिक मानवीय, सत्यान्वेषी, सौन्दर्य प्रेमी, नैतिक और सामाजिक मानव बनने की प्रेरणा दी है, और किसी-न-किसी रूप में मनुष्य अपने ऐतिहासिक मुक्ति-संघर्ष में उनसे सदा ही ऐसी प्रेरणाएँ लेते जायँगे। इसी तात्त्विक दृष्टि से प्रगतिवाद एक सच्चे कलाकार को स्वभावतः प्रगतिशील मानता है। पर एक सच्चे कलाकार या मानव आत्मा के

शिल्पी का गौरवशाली पद किसी व्यक्ति को तभी मिला है या मिल सकेगा जब वह अपनी कलाकृति से जीवन-वास्तव को प्रतिबिम्बित करके उसके किसी-न-किसी ऐतिहासिक सत्य को उद्घाटित करता है या भविष्य में करेगा।) इसी अर्थ में सच्चा कलाकार मानवता का पक्षधर होता है। वह जीवन का निरसंग द्रष्टा नहीं सक्रिय चितेरा होता है, यानी मनुष्य के सामने देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार इतिहास सामाजिक विकास की जो नई-नई संभावनाएँ पैदा करता जाता है और उनसे मनुष्य के कर्म-जीवन में जो नई-नई समस्याएँ उठती जाती हैं, सच्चा कलाकार इस यथार्थ को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर मनुष्य को अपने जीवन की यथार्थ समस्याओं और सम्भाव्य समाधानों का साक्षात् कराता है, और इस प्रकार मनुष्य को कर्म की प्रेरणा देता है।

: ३ :

ऊपर के विवेचन में हमने प्रगतिवाद के दृष्टिकोण से कला क्या है, वास्तविकता से कला का क्या सम्बन्ध है, कला किस प्रणाली से वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, कला में विचार-तत्त्व और रूप-तत्त्व का संयोग किस प्रकार होता है तथा कलाकार क्योंकर मानवता की प्रगतिशील शक्तियों का पक्षधर होता है, इस मौलिक प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। अब हम इस दृष्टिकोण से मूल्यांकन के प्रश्न को संक्षेप में समझ लेना चाहेंगे, क्योंकि कुत्सित समाजशास्त्रियों ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में ही सबसे ज्यादा विकृत और एकांगी बनाया है।

मूल्यांकन की समस्या क्या है? इस समस्या के दो पहलू हैं। (१) साहित्य और कला की प्राचीन कृतियाँ आज भी क्यों मूल्यवान् हैं अर्थात् हमें सौन्दर्य-बोध कराने और प्रेरणा देने में क्यों समर्थ हैं और आगे भी रहेंगी, तथा (२) आधुनिक युग में इतनी प्रचुर मात्रा में जो साहित्य रचा जा रहा है उसमें कौनसी कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं, अर्थात् समग्र रूप से जीवन का वैविध्यपूर्ण, गम्भीर, यथार्थ और मूर्त चित्रण करने के कारण महान् हैं (क्लासिक हैं) उनकी पहचान करके उनके सही-सही मूल्य को कूतना। मूल्यांकन की वास्तविक समस्या यही है। आज की तरह प्राचीन युगों में भी एक ही समय में सैकड़ों कवि और कलाकार साहित्य-कला के निर्माण में संलग्न रहे हैं, लेकिन जिनमें श्रेष्ठ कलाकार की प्रतिभा न थी, उनकी मात्र सामयिक महत्त्व की कृतियाँ अपने-आप ही काल कवलित हो चुकी हैं और आज हमें प्राचीन से विरासत के रूप में जो कृतियाँ प्राप्त हैं, उनमें से कौन स्थायी महत्त्व की हैं और कौन केवल सामयिक महत्त्व की—यह प्रश्न आज हमारे सामने नहीं है। यदि कोई प्रश्न है तो केवल यह कि जो कृतियाँ हमें प्राप्त हैं उनकी सच्ची महत्ता क्या है? या फिर खोज का प्रश्न है ताकि सामयिक अरुचि के कारण कोई वास्तविक रूप से महान् कृति उपेक्षित न पड़ी हो या खो न गई हो। परन्तु जिस साहित्य और कला का निर्माण इस युग में हो रहा है, उसमें कौन वास्तव में श्रेष्ठ और स्थायी महत्त्व की है और कौन केवल सामयिक महत्त्व की, साहित्य और कला के आलोचक के ऊपर उन्हें पहचानकर बताने का दायित्व है। तभी वह श्रेष्ठ कला के विकास में और इस प्रकार मानव-संस्कृति और मनुष्य-मात्र के मुक्ति-संघर्ष की प्रगति में सक्रिय योग दे सकता है।

किन्तु मूल्यांकन की यह समस्या दो कारणों से जटिल बन गई है। एक ओर तो कलावादी हैं जो रूपगत सापेक्षतावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, दूसरी ओर कुत्सित समाज-

शास्त्री हैं जो कला के वर्ग-आधार के सिद्धान्त को विकृत करके एक दूसरे ही प्रकार का सापेक्षता-वाद प्रचारित करते हैं। इन दोनों के कथन या दृष्टिकोण एकांगी हैं, इसीलिए असत्य हैं।

कलावादियों की दृष्टि में कला की श्रेष्ठता को जाँचने की कोई सामान्य (जनरल या ऐब्सोल्यूट) कसौटी नहीं हो सकती। हर युग की कला की रूप-शैली भिन्न होती है तो उसकी श्रेष्ठता की जाँच करने की कसौटियाँ भी उस युग की परम्परा और कला-रुचि के अनुकूल ही होती हैं। दूसरे युग में कला-शैली बदलती है, तो उसके सौन्दर्य की परख करने वाली कसौटियाँ भी बदल जाती हैं और पाठक या दर्शक की रुचियाँ भी। इसलिए अजन्ता की चित्र-कला को जाँचने के लिए जो मानदण्ड उन दिनों प्रचलित थे उनसे आधुनिक युग की चित्र-कला को जाँचना सम्भव नहीं है और न आधुनिक मानदण्डों से अजन्ता की चित्र-कला को जाँचना ही सम्भव है। उसको उस युग के मानदण्डों से ही पसन्द किया जा सकता है।

इससे भिन्न, किन्तु मूलतः सापेक्षतावादी दृष्टिकोण कुत्सित समाज शास्त्रीयता का है जो प्रगतिवाद या मार्क्सवाद की रामनामी ओढ़कर सामने आता है। यह दृष्टिकोण कला की भिन्न-भिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की खोज करने के लिए तत्कालीन समाज की वर्ग-व्यवस्था का विश्लेषण करता है, और उसी की सापेक्षता में उनको जाँचता है या अधिक गम्भीरता का उपक्रम करके 'युग की सामान्य चेतना' से उनका सम्बन्ध जोड़ता है। और अधिक विकृत होकर यह दृष्टिकोण कला-कृतियों का वर्ग-आधार खोजने के लिए उनके निर्माता कलाकारों और साहित्यकारों ने जिस वर्ग में जन्म लिया होता है, उसका हवाला देना-मात्र ही जरूरी समझता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि कलाकार जिस वर्ग में जन्म लेता है; वह उस वर्ग की चेतना को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार चूँकि बीते युगों के कलाकार अधिकतर अभिजात वर्गों में ही पैदा हुए या उन्होंने अपनी जीविका के लिए अभिजात वर्गों की नौकरी की या दरबारों का आश्रय लिया, इसलिए उनकी कला भी सामन्ती या पूँजीवादी आदि है। इसलिए इस दृष्टि से कला का मूल्य जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती, क्योंकि जीवन के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण कुछ और था और अब पूँजीवादी दृष्टिकोण कुछ और, और समाजवादी दृष्टिकोण कुछ और है। सच्ची कला का तो अभी जन्म ही हुआ है, किन्तु वह वर्ग-मुक्त समाज में ही पूरी तरह विकास करेगी, जब श्रमजीवी जनता के बीच से लेखक और कलाकार उत्पन्न होंगे। इस समय तो आलोचक का काम प्राचीन और आधुनिक लेखकों के गले में तख्ती लटकाकर उनको वर्ग-खूँटे से बाँध देना भर है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक रुचियों और शैलियों का या सौन्दर्य की जाँच का प्रश्न है, कला की रुचियाँ, शैलियाँ और मनुष्य की सौन्दर्य-दृष्टि बदलती ही नहीं रहती, बल्कि अभिजात वर्ग के लिए जो सुन्दर है, श्रमजीवी-वर्ग के लिए वही असुन्दर है, कर्म-जीवन से तटस्थ, केवल काम-क्रीड़ा की वस्तु नारी के कोमल अंग, क्षीण कटि और पतली-लम्बी मुलायम उँगलियों का अभिजात आदर्श श्रमिक और किसान नारी के पुष्ट अंग और रूक्ष मजबूत हाथों के आदर्श से सर्वथा भिन्न है। अतः सौन्दर्य को जाँचने की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती।

इस प्रकार रूपवादी और कुत्सित समाज-शास्त्री दोनों ही अपने एकांगी सापेक्षतावादी दृष्टिकोणों के कारण मूल्यांकन के वास्तविक प्रश्न से कतराते हैं। उदाहरण के लिए कुत्सित समाज-शास्त्री यदि कभी दो कलाकारों की तुलना करते हैं, तो अजब भोंडी मनोवृत्ति का परिचय देते हुए मनगढन्त आधार पर प्रेमचन्द को गोर्की और तॉलस्तॉय से महान् सिद्ध करने की कोशिश

करते हैं, क्योंकि गोर्की में 'आत्मारापन'[1] और तॉलस्तॉय में 'अध्यात्म'[2] के प्रति मोह था; या भारतेन्दु को शेक्सपियर के मुकाबले में श्रेष्ठ ठहराते हैं, क्योंकि शेक्सपियर 'सामन्तीवर्ग' का प्रतिनिधि कलाकार था और उसकी कला 'ह्रासोन्मुखी' थी जब कि भारतेन्दु जनता के कलाकार थे,[3] या शरत् को 'मध्यवर्गी' कथाकार और पन्त को स्त्रैण तथा प्रतिक्रियावादी आदि[4] सिद्ध करते हैं। किन्तु साहित्य के मूल्यांकन का प्रश्न इतना सरल नहीं है।

इन दोनों दृष्टिकोणों में आंशिक सत्य है। यह सच है कि कला की शैलियाँ, रुचियाँ, रूप-विधान आदि बदलते रहते हैं। यह भी सच है कि वर्ग-समाज में पैदा हुए कलाकार के संस्कार एक-न-एक सीमा तक अपने वर्ग की मान्यताओं से प्रभावित होते हैं। किन्तु इतना ही सत्य नहीं है। एक कलाकार की सम्पूर्ण चेतना (कलाकार ही क्यों, किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना) केवल अपने वर्ग की चेतना तक ही सीमित नहीं रहती। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में ज्ञान की जो पुञ्जीभूत राशि है, एक कलाकार उसके सम्पर्क में भी आता है तथा साथ ही कला-साहित्य की पूर्व-परम्परा, अपने तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के द्वन्द्व-जनित पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न लोक-चेतना, और अन्य देशों की कला-संस्कृति, जिनसे उस कलाकार का देश असंख्य आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों में पड़कर विनिमय करता है, वह प्रभाव ग्रहण करता है। इसलिए यह सत्य नहीं है कि वह जिस वर्ग में पैदा होता है, उसकी ही विचार-धारा को व्यक्त करता है, और यदि कोई वर्ग या युग ह्रासोन्मुखी है तो उसकी कला भी अनिवार्यतः ह्रासोन्मुखी ही होगी। कला-साहित्य का इतिहास तो यह बताता है कि महान् कलाकार अनिवार्यतः अपने समय की विचार-सीमाओं से आगे के द्रष्टा रहे हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने जो 'है' से आगे बढ़कर इतिहास की गति को पहचानते हुए, जो 'होना है' या 'होना चाहिए' की दृष्टि से जीवन-यथार्थ को रूपायित किया है। साथ ही इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि समाज की ह्रासोन्मुखता या प्रगतिशीलता के साथ कला की प्रगति या अधोगति का सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत अक्सर ऐसा हुआ है कि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील युगों में कला का ह्रास हुआ है, और ह्रासकालीन समाजों ने महान् कला को जन्म दिया है। इस आधार पर ही मार्क्स ने कहा था पूँजीवादी युग (जो इतिहास की अपेक्षा बर्बरता, दासता या सामन्तवाद के युगों से अधिक उन्नत युग है) श्रेष्ठ कला के निर्माण के लिए अनुकूल युग नहीं है।

एक कलाकार और उसकी चेतना यद्यपि युग-सापेक्ष्य होती है, क्योंकि वह किसी-न-किसी युग-विशेष में ही जन्म लेता है और देश-काल की परिस्थितियों और विचार-धाराओं से अछूता नहीं रह सकता, फिर भी चूँकि वह वास्तविकता के किसी सारपूर्ण अंग या सत्य का चित्रण करता है, इसलिए उसका वस्तुनिष्ठ (ऑब्जेक्टिव) मूल्यांकन भी सम्भव है। जिस प्रकार व्यक्ति में, समष्टि और विशेष में साधारण होता है, उसी तरह सापेक्ष्य में भी निरपेक्ष निहित रहता है। रूपवादियों और कुत्सित समाज-शास्त्रियों को प्रगतिवाद का यह उत्तर है कि यद्यपि कलाकार अपनी कला-कृति के निर्माण के लिए, अपने जीवन-काल की परिस्थितियों से आबद्ध रहने के

१-२. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'प्रेमचन्द', प्रथम संस्करण।

३. देखिए डॉ० रामविलास-कृत 'भारतेन्दु युग', प्रथम संस्करण।

४. देखिए डॉ० रामविलास के फुटकर लेख।

कारण सापेक्ष मानदण्डों का ही प्रयोग करता है, लेकिन बिना निरपेक्ष के सापेक्ष की कल्पना ही असम्भव है, वह सापेक्ष भी किसी निरपेक्ष की अपेक्षा में ही होता है और इन दोनों का सम्बन्ध भी सापेक्ष ही होता है। उदाहरण के लिए हिन्दी के भक्ति-काव्य को लें। भक्ति-भावना मध्य युग की सामान्य लोक-चेतना का माध्यम थी। भक्त कवियों ने इस सापेक्ष माध्यम को ही अपनाया, किन्तु भक्ति-काव्य के माध्यम से जिन कवियों ने जीवन-वास्तव और तत्कालीन समाज-सम्बन्धों के सत्य को जितनी ही गहराई और कलात्मक छवियों के रूप में व्यक्त किया है उस हद तक ही, उस युग-सापेक्ष भावना में जीवन का ऐतिहासिक सत्य प्रतिबिम्बित हुआ है। इसी आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन की सामान्य वस्तुनिष्ठ कसौटी बन सकती है। प्रगतिवाद सापेक्ष और निरपेक्ष इन दोनों कसौटियों पर परखकर किसी कला-कृति का मूल्य आँकता है। इन दोनों कसौटियों पर न परखने से किस आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि तुलसीदास (राम-भक्ति के बावजूद) महान् कलाकार हैं और जैनेन्द्रकुमार (गांधीवादी विचार-धारा के बावजूद) प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के सबसे बड़ा कथाकार हैं और उनकी कृतियाँ हिन्दी-कथा-साहित्य और इस प्रकार विश्व-साहित्य की स्थायी निधि हैं ? कला यदि वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करती है, तो वास्तविकता ही कला की साधारण कसौटी है, जिसकी अपेक्षा हमें उसका मूल्यांकन करना चाहिए। जो कलाकार वास्तविकता के किसी सारपूर्ण यथार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करता उसकी कला निर्जीव होती है और जो आलोचक मूल्यांकन से कतराते हैं उनकी आलोचना सत्यान्वेषी और रचनात्मक न होकर निरर्थक होती है। कला की शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ या युग की विचार-धाराएँ सापेक्ष मानदण्ड हैं। केवल उनके आधार पर ही सही-सही मूल्यांकन कर पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार हम अन्ततोगत्वा अपने रुचिगत या विचारगत पूर्वग्रह को ही कला-कृति का मूल्य आँकने के लिए आरोपित करते हैं।

कला क्या है और मूल्यांकन की वास्तविक समस्या क्या है, इन प्रश्नों पर प्रगतिवाद का यही दृष्टिकोण है।

नामवरसिंह

४
प्रयोगवाद

: १ :

हिन्दी कविता के पाठकों में 'प्रयोगवाद' की चर्चा 'तार-सप्तक' कविता संग्रह ('४३ ई०) से शुरू हुई; 'प्रतीक' पत्रिका (जुलाई '४७—) से उसे बल मिला और 'दूसरा सप्तक' कविता संग्रह ('५१ ई०) से अन्तिम रूप में उसकी स्थापना हुई। इसका मतलब यह नहीं है कि इन सबमें जितनी कविताएँ छपीं सभी को प्रयोगवाद की संज्ञा मिली। कविताएँ 'प्रतीक' में मैथिलीशरण गुप्त और बालकृष्ण शर्मा नवीन से लेकर अली सरदार जाफरी और सलाम मछली-शहरी तक की छपीं। और सप्तकों में भी रामविलास शर्मा तथा भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं को भी रखा गया। लेकिन मुख्य स्वर ये न थे। हिन्दी कविता के पाठकों ने इसे भाँपा। इसीलिए 'प्रयोगवाद'-सम्बन्धी जो धारणा औसतन बनी वह उक्त प्रकाशनों के अपवादों के आधार पर नहीं, बल्कि मुख्य स्वर के आधार पर।

पटना से प्रकाशित होने वाले 'दृष्टिकोण' और 'पाटल' नामक पत्रों ने 'प्रयोगवाद'-सम्बन्धी धारणा बनाने के लिए काफी सामग्री दी।

'प्रयोगवाद' नाम के चलन का श्रेय तार-सप्तक के सम्पादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्यों को है। उनमें 'प्रयोगवाद' शब्द का तो प्रयोग नहीं हुआ लेकिन 'प्रयोग' और 'प्रयोगशीलता' को साफ शब्दों में अपनी विशेषता कहा गया। पाठकों ने कवियों के 'प्रयोग-प्रयोग' की टेक पकड़ ली और नये प्रयोग के नाम पर आने वाली सभी कविताओं को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दे दी।

'प्रयोग' शब्द यद्यपि नई अंग्रेजी कविता के 'एक्सपेरिमेंट' के वज़न पर हिन्दी में आया था, फिर भी अंग्रेजी कविता में 'एक्सपेरिमेंटलिज़्म' नामक कोई वाद नहीं चला और हिन्दी में 'प्रयोगवाद' चल पड़ा। अंग्रेजी के उस 'एक्सपेरिमेंट' की देखादेखी उर्दू, बँगला आदि भारतीय साहित्यों में कविताएँ लिखी गईं, लेकिन उनमें 'प्रयोगवाद' के वज़न का कोई शब्द नहीं चला। यह हिन्दी की अपनी विशेषता रही।

हिन्दी में 'प्रयोगवाद' शब्द चलने के साथ-साथ उससे जुड़ी हुई धारणा भी फैली। सबके दिमाग में यह धारणा एक-सी साफ तो न थी लेकिन थी वह काफी मिलती-जुलती। जैसे सप्तकों में प्रकाशित होने पर भी रामविलास शर्मा और भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं को किसी ने 'प्रयोगवाद' नहीं कहा, इसके विपरीत उनमें संकलित नेमिचन्द्र जैन और भारतभूषण अग्रवाल द्वारा अपने को कम्यूनिस्ट तथा गजानन मुक्तिबोध और शमशेर द्वारा अपने को मार्क्सवादी घोषित किये जाने पर भी लोग उन्हें 'प्रयोगवाद' कहने से बाज़ न आए।

ये बातें बताती हैं कि हिन्दी कविता के पाठकों में 'प्रयोगवाद' के बारे में एक निश्चित धारणा बन गई है। मोटे तौर से इस धारणा का रूप यह है : १. प्रयोगवाद ह्रासशील भावना

की कविता है; २. यह प्रगतिवाद या प्रगतिशील भावना से अलग है; ३. इसमें कुछ कविताएँ प्रयोग के लिए प्रयोग हैं; ४. प्रयोगवाद की कुछ कविताएँ काव्य-शिल्प की दृष्टि से काफी अनगढ़ और दीक्षागम्य हैं; और ५. प्रयोगवाद कविता के ही क्षेत्र में नहीं है बल्कि साहित्य के अन्य रूपों में भी किसी-न-किसी नाम-रूप से मौजूद है।

प्रयोगवाद-सम्बन्धी इन लोक-प्रचलित धारणाओं की आशंका प्रयोगशील कवियों को भी हुई। इन धारणाओं से बचने के लिए उन्होंने 'प्रयोगवाद' संज्ञा से बचना चाहा। उन्होंने सोचा कि इस नाम के हट जाने से वे धारणाएँ में भी हट जायँगी। इसलिए सबसे पहले उन्होंने 'प्रयोगवाद' नाम को गलत, नाकाफी और भ्रम फैलाने वाला कहना शुरू किया। दलील इस तरह दी गई।

उनके अनुसार नई कविता के लिए प्रयोगवाद नाम गलत है क्योंकि 'प्रयोग सभी काल के कवियों ने किये हैं।' इसलिए उन्हें "प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना 'कवितावादी' कहना।"

दलील के इस चक्कर में काफी लोग आ गए। छायावाद के प्रवर्तक कवि पंतजी ने भी स्वीकार किया कि प्रयोगशील कविता छायावाद युग से ही लिखी जाने लगी थी। लेकिन प्रयोग-वादियों में भी विभीषण निकले और शमशेर ने इस तर्कजाल को तोड़ते हुए साफगोई के लिए प्रयोग और 'प्रयोग' दो शब्दों का प्रयोग किया जिनमें से एक सामान्य है, दूसरा विशेष।

इस तरह का तर्क नया नहीं है। हर युग का बुद्धिवादी अपनी बात को युग-युग के सामान्य शाश्वत सत्य के रूप में पेश करता है। दरअसल उसकी बौद्धिकता इसी सामान्यीकरण में है। लेकिन आज तक किसी ने कविता का ऐसा सामान्य-शाश्वत रूप नहीं देखा जो युग-विशिष्ट न हो। कविता तो सभी कवियों ने लिखी, लेकिन कविता-विशेष लिखी; विशेषता से ही कविता का एक सामान्य रूप बना। 'प्रयोगवाद' भी कविता-विशेष है, इसलिए समाज ने केवल आज की विशेष कविता को यह नाम दिया है। कोरे काव्य-शिल्प में प्रयोग रीतिवादियों ने भी किया और शुरू-शुरू में कुछ छायावादियों ने भी; लेकिन उन्हें प्रयोगवादी किसी ने नहीं कहा।

'प्रयोगवाद' नाम हटाने के लिए दूसरी दलील यह दी गई कि इससे नई कविता को समझने और उसका मूल्य आँकने में बाधा पड़ती है। इसके लिए यह दिखाया गया कि अनेक प्रगतिवादी कवियों की रचनाएँ भी प्रयोगशीलता के अन्दर आती हैं। इस पर सुझाव दिया गया कि दोनों नाम हटाकर उभयनिष्ठ रचनाओं के लिए तीसरा पूर्वग्रह-रहित नाम 'नई कविता' दिया जाय। प्रगतिशील और प्रयोगशील कवियों में समानता दिखाने के लिए दोनों की कविताएँ तो साथ-साथ छापी ही गईं स्वयं 'प्रयोगवादी' बिल्ला वाले कवियों की प्रगतिशील (?) ढंग की रचनाएँ भी दिखाई गईं। जैसे अज्ञेय ने अपनी यह रचना पेश की—

बह चुकी बहकी हवाएँ चैत की
कट गईं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ जलाकर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की

इस दलील के भी चक्कर में कुछ सीधे लोग आ गए। पन्तजी को भी लगा कि प्रयोग-वादी काव्य जहाँ अपनी शैली तथा रूप-विधान में अतिवैयक्तिक है वहाँ अपनी भावना में *जनवादी*।

यहाँ भी सम्भावना को वस्तुस्थिति से गड्डमड्ड करने की कोशिश है। सम्भव है जन-शक्ति के बढ़ते हुए दबाव के कारण आगे चलकर ईमानदार प्रयोगवादी कवि प्रगतिशील हो जायँ और अतिवादी राजनीतिक प्रगतिशील कवि जीवन की व्यापकता ग्रहण कर चलें और फिर थोड़े-बहुत अन्तर के साथ ये दोनों धाराएँ एक साथ बहने लगें। लेकिन आज यह वस्तु-स्थिति नहीं है।

प्रयोगवादी कवियों की ओर से विलयन के लिए आये हुए इस समझौते में और चाहे जो हो लेकिन उससे इतना तो पता चलता ही है कि वे कवि जनता की बढ़ती हुई शक्ति का दबाव महसूस कर रहे हैं। प्रगतिवाद आज चाहे जितना संकीर्ण और बदनाम हो लेकिन किसी लेखक के लिए आज यह सम्भव नहीं है कि प्रगतिविरोधी कहलाकर समाज में खड़ा रह सके।

नतीजा यह निकला कि प्रगतिवाद और प्रयोगवाद नाम यों ही बेमानी नहीं हैं कि जब जी चाहा बदल लिया। इन नामों के साथ जनता की धारणाओं का लम्बा सम्बन्ध है। सब कुछ होते हुए भी 'प्रगति' शब्द उतना बदनाम नहीं है जितना 'प्रयोग'। यह तो प्रयोगवादियों के नाम बदलने की मिन्नतों से जाहिर है। यदि उन्हें अपनी जनवादी सम्भावना पर विश्वास है तो नाम बदलने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करने की कोई जरूरत नहीं। बार-बार नाम-रूप बदलने से ही आदमी नहीं बदल जाता।

'प्रयोगवाद' नाम की निरर्थकता के लिए यह भी कहा जाता है कि 'प्रयोग' का 'वाद' नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रयोग' अपने-आप में इष्ट नहीं है।

यह तर्क आज का है, क्योंकि बढ़ते हुए सामाजिक दबाव में बड़े-से-बड़े प्रयोगवादी को भी यह हिम्मत नहीं है कि प्रयोग के लिए प्रयोग करने का दम भरे। वह जमाना और था जब निर्भीक भाव से गिरिजाकुमार माथुर ने घोषित किया था कि कविता में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान दिया है। इतिहास में पहले भी ऐसा हुआ है। रीति को प्रधानता देने पर भी रीतिवादी कवि को कम-से-कम बहाने से ही सही 'राधा-कन्हाई' सुमिरन की आड़ लेनी पड़ती थी।

इसलिए जैसा कि स्वयं प्रयोगवादी प्रवक्ता का कहना है, कविता ही कवि का परम वक्तव्य है। यद्यपि यह भी एक वक्तव्य है फिर भी हम इसे स्वीकार करते हैं कि प्रयोगवादी कविता के मूल्यांकन में इस वक्तव्य को ध्यान में नहीं रखना चाहिए कि 'प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है।' यदि प्रयोग के लिए प्रयोग वाली कविताएँ लिखी गई हैं तो उन्हें वैसा कहना पड़ेगा।

लेकिन यहाँ फिर एक दलील आती है। ऐसी कविताओं को प्रयोगवादी प्रवक्ता 'असफल प्रयोग' मानते हैं। लेकिन हक़ीक़त यह है कि असफल प्रयोग का उदाहरण देने से वे हमेशा कतराते हैं। उनका जवाब होता है "प्रयोग की अति का उदाहरण नहीं दूँगा। नई कविता में कोई भी असफल कविता ले लीजिए, आप पाएँगे कि उसकी असफलता का मूल यही है कि कवि ने प्रयोग को इष्ट मान लिया।"

एक ओर तो 'असफल प्रयोग' का उदाहरण देने से इन्कार और दूसरी ओर 'प्रगतिवादी कवि की अति' यानी असफल प्रगतिवादी का उदाहरण देने में एकदम कमरकस। क्या उस असफल प्रगतिवादी कविता को 'असफल प्रयोग' नहीं कह सकते थे? लेकिन ईमानदारी का यहाँ तो यह हाल है कि सफल प्रगतिशील कविता को तो 'प्रयोगशील' कहना लेकिन असफल प्रगतिशील कविता को मजाक या अति-प्रगतिवादी! मीठा-मीठा गप, कड़ुआ-कड़ुआ थू! इसी ईमानदारी

के बूते पर चले हैं प्रयोगवादी भगत 'नई कविता' की शामिल धारा बहाने।

मतलब यह कि यह सारा तर्कजाल केवल अस्तित्व-रक्षा के लिए है।

इसलिए 'प्रयोगवाद' नाम से ज्ञात कविताओं पर विचार करना किसी अलीक और अनिश्चित काव्य की रुझान पर विचार करना नहीं है। हमारे हिन्दी साहित्य में इस तरह की एक रुझान जरूर है और समझदार कविता-पाठक उसकी असलियत जानते हैं।

: २ :

तय है कि 'प्रयोगवाद' नाम जब से चला, उससे पहले उस तरह की कविता पैदा हो चुकी थी, यानी '४३ ई० से पहले। लेकिन इतना पहले नहीं जितना पन्तजी समझते हैं, यानी 'प्रसाद जी की प्रलय की छाया' और 'वरुणा की कछार' के समय से अथवा निरालाजी के 'मुक्त छन्दों' के रचना-काल से। तिथिक्रम की दृष्टि से '४० ई० के आसपास प्रयोगवाद का आरम्भ हुआ।

प्रयोगवाद, जैसा कि कुछ पण्डितों का अनुमान है, कहीं बाहर से नहीं आया। बाहर से कोई प्रभाव तभी आता है जब उसे ग्रहण करने योग्य अपने यहाँ भी मानसिक पृष्ठभूमि हो। इसलिए 'प्रयोगवाद' अपने ही यहाँ की सामाजिक और साहित्यिक परिस्थिति से उत्पन्न हुआ। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पढ़े-लिखे लोगों में पाठकों का एक अच्छा-खासा समु दाय है जो उन कविताओं में दिलचस्पी लेता रहा है।

इसलिए 'प्रयोगवाद' को समझने के लिए उसे पैदा करने वाली दिमाग़ी जमीन की पड़ताल ज़रूरी है।

ज़माना चालीस का था। यूरोप में दूसरी लड़ाई शुरू थी। अपने यहाँ आज़ादी की लड़ाई ठण्डी-सी पड़ने लगी थी। 'बीस के वीरों में थकान-सी आ चली थी। आन्दोलन समझौते की वार्ताओं में रुचि लेने लगा था। हवा में एक तरह की निराशा थी। 'बीस का जनव्यापी गांधीवाद व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन में ढल चला था। उसकी क्रान्तिकारी भावना धीरे-धीरे रामधुन में सिमटने लगी थी।

आर्थिक दशा तंगी पर थी। निम्न मध्यवर्ग सबसे अधिक दयनीय था। रोजमर्रा की छोटी-छोटी ज़रूरतें मन को चोट पहुँचाने लगी थीं। जो मन पहले बड़े-बड़े ऊँचे आदर्शों और सपनों के पंख पर उड़ा करता था, उस पर छोटी-छोटी भौतिक बातों का बोझ बढ़ चला था। घर बाज़ार में बिकने को जा पड़ा था। दुकान रसोईघर को ग्रसने लगी थी।

नैतिक दृष्टि से यह पतन का युग था। 'बीस में जिस नारी को 'देवि, माँ, सहचरि, प्राण' कहकर ऊपर उठाया गया था, वही अब भोग्या प्रतीत होने लगी थी। भूखी औरत अपना शरीर बेचने को विवश थी। बड़े-बड़े शहरों में हर पाँच घर के बाद एक वेश्या-घर बन गया था। यौन-सम्बन्धों के नग्न-चित्रण में लेखक को कोई शर्म न थी। 'घासलेटी' साहित्य बाढ़ पर था।

पराजय, भूख और अनैतिकता के इसी कीच में प्रयोगवाद की विद्रोही चेतना उत्पन्न हुई। इन सबसे उसे घोर असन्तोष था। इस मध्यवर्गी युवक का मन अत्यन्त संवेदनशील था। उसकी मानसिक शिराएँ बहुत ही नाज़ुक थीं। उसके लिए इन क्षुद्रताओं को बरदाश्त करना मुश्किल था। उसमें पवित्रता की चाह थी; सच्चाई की तड़प थी; न्याय की माँग थी; शान्ति की कामना थी; आत्मविकास की महत्त्वाकांक्षा थी।

लेकिन उसके आसपास का समाज बाज़ारू था; कुरुचि-मत्त था। उस समाज को ऐसे भावुक युवक की परवा क्यों होने लगी! उस पर इस उपेक्षा और अनमेल वातावरण की प्रतिक्रिया हुई। प्रतिक्रिया ही नहीं, प्रतिक्रियाएँ हुईं—कभी इन सबके प्रति मखौल, कभी क्रोध, कभी शाप, कभी दम्भ और अहं का विस्फोट, कभी शोक-भरी आह, कभी मरण की भावना, कभी आत्म-भर्त्सना, कभी किसी दैवी-शक्ति के प्रति प्रणति, कभी अपनी प्रिया का क्षण-भर ध्यान, कभी यौन-परिकल्पना, कभी घोर उच्छृङ्खलता का आवेग, वग़ैरह-वग़ैरह।

अकेले निराला के 'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते', 'अणिमा' और 'अर्चना' में ये सभी भाव किसी-न-किसी रूप में मिल जायँगे। अज्ञेय के 'वंचना के दुर्ग' (इत्यलम्) में भी इनमें से अधिकांश के दर्शन हो सकते हैं। कभी वह आततायी को अपने क्रुद्धवीर्य की पुकार सुनाता है; कभी अपने अवतंसों के खड्गधार और न्यायकार वर्ग का मखौल उड़ाता है; कभी अपने को 'पदाक्रान्त रिरियाते' कुत्ते की तरह दयनीय समझता है, और फिर मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला; कभी वह अपने को छप्पर-तले का अहंलीन शिशु-भिक्षुक और कभी वत्सल तारक-युग्म; कभी वह निदाघ के अदृश्य अंगारों से विदग्ध और श्वासरोधी वायुवृत्त भेदने वाला थके-माँदे पक्षी की तरह दिखाई पड़ता है।

इन सभी प्रतिक्रियाओं में एक तरह का पागलपन और झक्कीपन मिलेगा। यह सारा आक्रोश उस हृदयहीन समाज को प्रभावित करने की जगह कवि के ऊपर ही आ पड़ा; उसकी ही छाती छिल उठी। उसकी सारी भन्नाहट और गुर्राहट मकड़ी के जाल में फँसी हुई मक्खी की तरह दयनीय थी। हाथ लगी केवल निहत्थी झल्लाहट। परिस्थिति के इन दासों का सारा विद्रोह उस दायरे के ही अन्दर था जिसको तोड़ने की वे कोशिश कर रहे थे। उन्हें न तो अपने वर्ग में जगह थी और न उसके बाहर। वे त्रिशंकु थे। दलदल से बाहर निकलने के लिए जिस जमीन पर वे पाँवों का धक्का देते थे वह भी उसी दलदल की थी। 'ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझ्यो जात!' उन्हें कहीं ठोस जमीन न मिली।

कुहासे और ठण्ड से भरे हुए ऐसे ही अन्धकार में ये कवि प्रकाश के लिए टामकटोया कर रहे थे। 'अन्वेषण' की इनमें प्यास थी। उस अन्धकार में भटकते-भटकते जितने 'अन्वेषी' साथी मिल गए, वे एक हुए और इस तरह 'राह की खोज' शुरू हुई। इसी खोज को उन्होंने प्रयोग या प्रयोगशीलता कहा।

खोज किस राह की? प्रयोग किस बात का? उन्हें इसका पता नहीं। जिसकी खोज, वह अज्ञेय है; जिसके लिए प्रयोग, वह अनिश्चित है। फिर भी संसार को ऐसा कुछ नया दे सकने की अभिलाषा है जिससे उसमें नये जीवन का संचार हो सके। खोज किसी नये की, जो वस्तु-स्थिति से भिन्न हो। यह 'कुछ नया' अनुभवगम्य तो शायद रहा हो पर बुद्धि की पकड़ से परे था। उसका रूप तो स्पष्ट न था लेकिन उसके लिए सच्ची, ईमानदार, कवि-जन-सुलभ ललक जरूर थी। दिशा न थी लेकिन गति जरूर थी।

ऐसे ही कुछ स्पष्ट और बहुत-कुछ अस्पष्ट मन में प्रयोगवाद पैदा हुआ। उपन्यास-कहानी में इसने यथातथवाद (नैचुरलिज़्म) का रूप लिया और कविता में प्रतीकवाद या प्रयोगवाद का। रुझान एक ही थी।

इस भावना के लिए भाषा की भी खोज हुई। जैसी स्पष्ट-अस्पष्ट भावना, वैसी ही स्पष्ट-

अस्पष्ट भाषा। भाषा अस्पष्ट तो छायावादी कवि की भी थी लेकिन इतनी अस्पष्ट नहीं, क्योंकि उसके भीतर और बाहर कहीं भी इतना गहरा अन्धकार न था। इस कवि को पहली बार भाषा की दरिद्रता का भान हुआ। आखिर वह किससे कहे? कैसे कहे? उसका दर्द समझने वाला कोई न था। उसने नये-नये शब्द गढ़े, नये छन्द बनाए, जहाँ शब्द असमर्थ लगे वहाँ विराम-चिह्नों से मदद ली। लेकिन उसने अपने को स्पष्ट करने के लिए जितनी कोशिश की उतना ही अस्पष्ट होता गया। वह अफनाकर रह गया। भाषा सँवारने में जब हाथ लगाया, वह बिगड़ गई, क्योंकि वह आतुर हाथ खुद काँप रहा था। संस्कृत के पुराने कवि के शब्दों में उसकी दशा कुछ इस तरह की थी—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति कान्तः स्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि कापि सखि भाजनमीदृशानां वैरी न चेद्भवति वेपथुमन्तराय॥

(कान्त ने अपने हाथ से मेरे कपोलतले मञ्जरी चित्रित कर दी है, यह दिखलाकर तू गर्व मत कर। हे सखि, दूसरी कोई भी तुम्हारे ही समान सौभाग्यवती हो सकती थी, यदि प्रिय के हाथ का वैरी कम्पन बाधक न बनता!)

लेकिन अफसोस कि प्रयोगशील कवि अपने हाथ के कम्पन को भी इतने स्पष्ट शब्दों में न अनुभव कर सकता था और न कह ही सकता था।

कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह झल्लाकर तय कर लेता था कि 'सँवारने में जो बिगड़े उससे बनाना क्या!' और उस बिगड़ते चित्र को घोंच-घाँचकर और भी बिगाड़ देता था; ताकि न वह खुद समझ पाए और न कोई दूसरा ही।

उनकी प्रतिमाएँ (प्रतीक) खण्डित थीं—खण्डित ही नहीं, धुँधली भी थीं; मुहावरे विशृंखल थे; छन्द का लय किसी दूर देश से आती हुई कुछ सुनी, कुछ-कुछ अनसुनी-सी स्वर-लहरी-सा था। संस्कृत के बड़े-बड़े शब्द तो आते थे लेकिन उनमें वह गरिमा और शालीनता न थी जो छायावादी कवियों की भाषा में थी; कभी-कभी तो पूरी शब्दावली एकदम ओछी-सी आ जाती थी। निराला के 'कुकुरमुत्ता' तथा वैसी ही दूसरी कविताओं के शब्दों में यह ओछापन देखा जा सकता है। लेकिन कवि करे क्या? यह ओछापन तो उसके समूचे परिवेश में था—

कैसे विश्व प्रेम फिर
ध्यावे कोई?
कैसे आशीर्वच—
'मुदन्तु सर्वे प्रसीदन्तु सर्वे'
गावे कोई?
क्या करें, कहाँ जायँ?
मुँह से यही हाय!
निकले है मेरे
'धत्तेरे! नास जाय!'

लेकिन मानसिक सन्निपात की-सी ऐसी दशा में सभी कवि न थे। ऐसी पीड़ा निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध और नेमिचन्द्र में काफी थी। शमशेर और रघुवीरसहाय में भी वह पीड़ा काफी तीखी है।

गिरिजाकुमार माथुर और प्रभाकर माचवे जैसे मनमौजी कवि भी थे, जिन्हें किसी ऐसी गहरी पीड़ा का एहसास न था। वे बाहर के लुभावने वातावरण में भी रम लेते थे। ऐसे कौतुकी कवियों के पास तरह-तरह के विस्मयकर प्रयोग करने के लिए काफी फुरसत थी। गिरिजाकुमार माथुर को संगीत से रुचि थी, इसलिए वे ज्यादातर शब्दों की ध्वनि से चित्र बनाने में लगे रहे। उनके रसिक हृदय की अनुभूतियाँ एक हल्की-हल्की-सी मिठास और गरमाई से आगे न बढ़ सकती थीं।

प्रभाकर माचवे की रुचि रेखाकारी तथा तरह-तरह की किताबें पढ़ने में थी। इसलिए उन्होंने अपनी कविता में रेखाओं और किताबी उद्धरणों को खूब जगह दी।

इन कवियों के कौतुक को भी उस समाज की कौतुकी प्रतिक्रिया का परिणाम समझना चाहिए। यह सच है कि कविता स्थूल इन्द्रियों को यों ही झनझना देने वाली उत्तेजना नहीं, गहरी अनुभूति जगाने वाली शक्ति है। लेकिन वह युवक क्या करे? ऐसे ही कवियों को पढ़कर पाठकों में प्रयोगवाद 'प्रयोग के लिए प्रयोग' के रूप में बदनाम हुआ। वैसे यह चौंकाने वाली मानसिक दशा थोड़ी-बहुत सभी कवियों में थी; निराला, अज्ञेय, शमशेर और रघुवीर सहाय भी इससे वंचित न थे।

बाद वाले प्रयोगशील कवियों में नरेशकुमार मेहता और धर्मवीर भारती में भी चमत्कार की यह प्रवृत्ति काफी मिली। नरेश मेहता हर लाइन में अनूठी उपमा देने की फिराक में रहते और भारती भी; लेकिन भारती 'फिराक' के ढंग पर कुछ रूमानी-रूमानी-सी (जो कभी-कभी बेमानी तक हो जाती है) शब्द-योजना के चक्कर में ज्यादा रहते हैं और इनमें नरेश की तरह चमत्कार पैदा करने की कोशिश का पता नहीं चलता। यही इनकी सफलता है। वैसे इनमें कभी-कभी 'हाड़-हाड़ चिटक जाय मगर दर्द न हो' जैसे दर्द की घोषणा मिलती है, लेकिन यह घोषणा ही दर्द की गहराई बताने के लिए काफी है। माथुर की-सी रसिकता यहाँ भी है, दैहिकता शायद ज्यादा।

प्रयोगवाद के इस बहुरंगी रूप में सदा एकरूपता नहीं रही। पिछले बारह-तेरह वर्षों में इसने कई केंचुलें उतारीं। धीरे-धीरे पहले वाली कुहेलिका कुछ छँट गई। लड़ाई खत्म हुई। संसार की जनता की आशा सोवियत भूमि अग्नि-परीक्षा से खरे सोने की तरह और भी निखरकर बाहर निकली। उसके साथ ही चीन में भी नई सुबह आई। यूरोप के और भी कई देश स्वतन्त्र हुए। एशिया में नया जागरण आया। संघर्ष को नई शक्ति मिली। भारत भूमि पर से अंग्रेजी पंजा छूटा। निराशा खत्म तो नहीं हुई लेकिन आशा जरूर बँधी। अँधेरे के मुसाफिरों को रोशनी तो नहीं मिली लेकिन उसका आभास ज़रूर मिला। उनकी आँखों के सामने रास्ता खोज-कर जाने वालों की परछाइयों की लम्बी कतार तो दिखाई पड़ी लेकिन वे खुद उस कतार के साथ न हो सके, क्योंकि उन्होंने अपने चारों ओर अपने ही थूक से जाल बुन लिया था। घड़े की उन मछलियों को आजाद करके समुद्र में तो ज़रूर छोड़ दिया गया था लेकिन वहाँ भी वे उसी घड़े की सीमा में चक्कर काटती रहीं।

इस परिवर्तन ने प्रयोगशील कवि के भाव और भाषा में थोड़ा हेर-फेर किया। बाहर-भीतर का धुँधलका कुछ कम हुआ; जाड्य-जकड़ कुछ ढीली पड़ी; शब्द-प्रतिमाएँ कुछ साफ हुईं; मुहावरों की विशृङ्खलता कम हुई; वाक्य छोटे हुए; शब्दों में सादगी आई; संगीत में

गाँवों की गमक आई। अज्ञेय की 'वंचना के दुर्ग' से 'मिट्टी की ईहा', और फिर 'हरी घास पर क्षण भर' तथा उसके बाद 'बावरे अहेरी', 'पहली किरन', 'हवाई यात्रा' आदि कविताओं में क्रमिक ऋजुता और भाव-प्रसार का क्रम देखा जा सकता है।

पहले के अनेक प्रयोगवादी कवि प्रगतिवाद के खेमे में आ पड़े। मुक्तिबोध और गिरिजा कुमार माथुर का परिवर्तन स्पष्ट है।

अगर वहीं रहे अथवा वहाँ से भी पीछे हटे तो नेमिचन्द्र और भारतभूषण।

इस समय जो नये युवक आए, वे प्रयोगवाद की पिछली पुरानी परिपाटी पढ़कर एक बार फिर उधर खिंचे। लेकिन बदले हुए मौसम में पुरानी बातों का दुहराना उपहासास्पद हो उठा। पहले जो व्यथा करुण थी अब दयनीय हो उठी। इसलिए परवर्ती प्रयोग में ज्यादातर 'मजमून छीनने' की ही वीरता दिखाई पड़ती है, यानी पहले प्रयोगवादी की उक्ति लेकर उसमें थोड़ा सा कुछ और मिलाते हुए आगे बढ़ जाने की कोशिश। कविता यानी एक 'शॉट'! एक 'शॉक'! लह गया तो तीर, नहीं तुक्का।

'दृष्टिकोण' गुट के नलिन, केसरी और नरेश में यह प्रयोग-कौतुक चरम-सीमा पर है तथा प्रतीक-मंडल के दूसरे नवयुवकों में 'मजमून छीनने' जैसा आकर्षक प्रयोग।

कुल मिलाकर यही लगता है कि ये सभी प्रयोगवादी अपने ही वर्ग के ऊपर कोड़े हैं। प्रतिभाएँ ये बड़ी-बड़ी हैं, लेकिन उनके वर्ग ने उन्हें छोटे-छोटे प्रयोग में उलझाकर समाप्त कर दिया। ये अपनी ही असफलता के करुण गीत हैं। वे अपने ही दुश्मन साबित हुए। नियति की यह करुणा ही थी जो अपने पागलपन में ही वे अपने को सही समझते रहे। ईमानदार वे रहे, लेकिन सारे ईमानदारी के अपने ही प्रति अपनी बेईमानी को न भाँप सके—यानी अपने को उस जाल से छुड़ाने की ईमानदारी। एक प्रयोगवादी के ही शब्दों में 'उत्पीड़ित जीवन की व्यथा उन्होंने वहन की है, मगर फिर उसे माथे का अंग समझकर वहन ही करते रहे हैं।···वे अपने कष्ट का कारण नहीं ढूँढते रहे, समाधान ढूँढते रहे।'

उनकी इस दशा पर दया आती है: लेकिन जब निदान बताने पर भी वे अपनी व्यथा को ही गौरवशाली रूप देकर छोड़ने से इन्कार करते हैं तो क्रोध भी आता है। जब वे निरुद्देश्य निरन्तर चलते रहने में ही सुख पाते हैं तो मानना पड़ता है कि वे 'गति के पागलपन से ग्रसित हैं।' नारद की तरह निरन्तर गतिशीलता अभिशाप मानी गई है, वरदान नहीं। जब राह दीख जाने पर भी कोई अविश्वासपूर्वक 'राह के अन्वेषण' का हठ करे तो इस 'अन्वेषण-अन्वेषण' की रट को बीमारी ही कहा जायगा। 'खोज की विकलता में ही स्थैर्य' का सुख अनुभव करना स्वस्थ मन का लक्षण नहीं है। सम पर आ जाने के बाद भी तबला पीटते जाने वाले तबलची की तरह ही यह पागलपन है, जिसे निरुद्देश्य बजाते जाने में ही सुख है, चाहे थोड़ी देर बाद वह थाप बेसुर ताल की ही क्यों न पड़ने लग जाय!

जब यह युवक 'त्रिशंकु' था तब तो दयनीय था, लेकिन जब जान-बूझकर उसने अपने को 'नदी का द्वीप' बना लिया तो धारा के धक्के का पात्र हो गया। यदि वह महत्त्वाकांक्षा की उड़ान में औंधे मुँह होकर अधर में लटक गया तो हमारी सहानुभूति का पात्र था। लेकिन जब अपने साथ नदी के कई 'द्वीपों' को बटोरकर धारा रोकने की कोशिश करने लगा और बार-बार अपनी अस्तित्व-रक्षा की दुहाई देने लगा तो अक्षम्य हो उठा। लहरदार साँप की तरह कितना

मोहक, कितना निरीह और कितना वेध्य !

इस संघर्ष में आज 'प्रयोगवाद' कितना दयनीय है और कितना अशक्त ! प्रयोगवाद त्रिशंकु ! प्रयोगवाद नदी का द्वीप ! प्रयोगवाद साँप !

महत्त्वाकांक्षी ! अस्तित्ववादी ! मोहक !
दयनीय ! निरीह ! वेध्य !

राजनारायण बिसारिया

५
प्रतीकवाद

: १ :

पिछले दशक में हिन्दी-कविता ने जो नये मोड़ लिये हैं वे विविधता में बँट जाने के कारण चाहे संवेदना की अभिप्रेत गहराई को अभी न छू पाए हों परन्तु इतना क्या कम है कि वे रीतिकाल जैसी किसी गलाघोंट जड़ता के शिकार न होकर एक प्रबुद्ध पहरुए की भाँति प्राणवान् साहित्य-सर्जना की प्रेरक शक्तियों की रक्षा ही नहीं कर रहे वरन् नवीन अनुसंधान-क्षेत्रों का दिशा-निर्देश भी कर रहे हैं। नई भूमियों पर कविता का उतर आना ही उसके गतिशील होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस गति में प्रगति भी हो सकती है, कुगति भी; परन्तु अ-गति तो नहीं है, गति-रोध तो नहीं है। हाँ, अ-गति के इस अभाव में नई कविता ने केवल प्रगति ही की हो ऐसी बात भी नहीं है। यह मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता कि नवीन कविता में मर्म को छू लेने वाली वह गहराई नहीं है जिसका अभिषेक पा लेने के बाद ही किसी साहित्य को एक प्रतिष्ठित ऊँचाई तक पहुँचने का अधिकार मिला करता है। मर्मस्पर्शिता की बात तो दूर नई कविता की प्रयोगवादी अथवा प्रयोगशील धारा में अधिकांशतः विषय-वस्तु के नाम पर बौद्धिक दुरूहता, शैली-शिल्प में अतिशय अनुरक्ति होने के बावजूद बच्चों-सी खिलवाड़ और अनुभूति की जगह केवल टुटपूँजियापन ही मिला करता है। सम्प्रति पत्र-पत्रिकाओं में प्रयोग के नाम पर छपने वाली अधिकांश रचनाएँ इस कथन को दुहराती हैं।

हम कविता के नये मोड़ों का स्वागत करते हैं, उसके उथलेपन का नहीं; परन्तु जो इस उथलेपन के कारण उसकी प्रयाण-भूमि का भी तिरस्कार करते हैं हम उनसे असहमत हैं। ऐसे सभी लोग सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि कोई भी धारा जब नई धरती तोड़ती है तो प्रारम्भ में उथलापन आ ही जाता है। फिर वह धारा जितनी वेगवती और शक्तिमती होती है समय और गहराई के उसी अनुपात से वह नोतोड़ रसमग्न भी हो जाती है। छायावाद की मधुरिमा का वितान जिसके शीश पर तना और आधुनिक हिन्दी का महत्काय रूप जिसकी पीठ पर खड़ा हो सका, भारतेन्दु-युग के उस कच्चेपन और उथलेपन का महत्त्व क्या कभी भुलाया जा सकता है? नई कविता की नई भूमियों के प्रति भी इसीलिए अनुदारता का व्यवहार नहीं होना चाहिए। इसीलिए नई कविता के 'प्रकार' को अनुकरणीय न मानते हुए भी हम उसकी 'प्रकृति' का अभिनन्दन करते हैं।

इसे नई कविता का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि किसी पक्के रंग में रँग पाने के पूर्व ही साहित्यिक जौहरियों ने उसे केवल पूर्वग्रहयुक्त कसौटियों पर कसा ही नहीं है वरन् 'साहित्यिक वादों' की मुहरबन्द थैलियों में बन्द कर देने का उपक्रम भी किया है। इस मामले में उनका दृष्टिकोण

अतिशय उदार हो गया है और इसीलिए उन्होंने नई कविता के सम्यक् रूप-गठन के पूर्व ही उसके कण्ठ में देशी-विदेशी साहित्यिक 'वादों' की रंग-बिरंगी नामावलियाँ डाल दी हैं। नये स्वर मुखर भी न हो पाए, उनके लक्षण स्पष्ट भी न हुए कि 'प्रयोगवाद', 'सौन्दर्यवाद', 'बिम्बवाद', 'प्रतीकवाद' आदि से उनका नामकरण आरम्भ हो गया। नई कविता का जिक्र करते हुए 'प्रतीकवाद' को कई बार घसीटा गया।[1] परन्तु इस सम्बन्ध में सबसे मज़ेदार बात यह रही कि पहले से प्रवर्तित किसी भी म्रियमाण या जीवन्त 'वाद' को आरोपित करने के पूर्व उसकी भाव-भूमियों, सिद्धान्त-धारणाओं एव समीक्षा-पद्धतियों का जो वाद-मुक्त विश्लेषण आलोच्य विषय के समानान्तर किया जाना अनिवार्य होता है उसकी नियोजना करने का प्रयास इन आलोचकों ने किया ही नहीं।

'प्रतीकवाद' फ्रेञ्च-कविता-धारा की वह लहर है जो १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में फ्रांस में प्रवहमान हुई और वहाँ के तत्कालीन साहित्य के सभी अंगों-उपांगों एवं कला के सभी क्षेत्रों को आप्लावित करती हुई यूरोप के अन्य देशों तथा अमरीका तक अपना प्रभाव छोड़ गई। प्रतीकवादी फ्रेञ्च कवियों[2] ने इसे 'वाद' के रूप में उठाया था परन्तु जर्मन रिल्क, रूसी ब्लॉक, आयरिश यीट्स, अमरीकन हॅत्थार्न तथा ह्विटमैन और इंग्लैण्ड के इलियट आदि ने इसे प्रभाव के रूप में ग्रहण किया। इनमें यीट्स तो पूरा प्रतीकवादी बना, परन्तु वह भी अपने कवितागत सिद्धान्तों में वैभिन्न्य ले आया। शेष ने प्रतीकवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों को विविध रूपों में अपनाया। इस वैविध्य के कारण ही इनको 'प्रतीकवादोत्तर निकायों' (Post-Symbolist Schools) का कवि माना गया, प्रतीकवादी धारा का नहीं। हाँ, प्रतीकवाद ने इन्हें नया दृष्टिकोण तथा नया सौन्दर्य-बोध अवश्य दिया और उसके आलोक में इन्होंने अपनी कविता को नये स्वर, नये रूप और नये 'शेड्स' (Shades) दे दिये।

यद्यपि फ्रेञ्च प्रतीकवाद ने यूरोपीय साहित्य को बहुत-कुछ दिया, परन्तु फ्रांस में उसकी विषय-वस्तु केवल अग्राह्य और उलझी हुई ही न रही वरन् वह अपनी प्रवृत्तियों में अस्वास्थ्यकर, कुत्सित और अनैतिक भी हो गई। इन्हीं स्वप्निल, अप्राकृतिक, रहस्यात्मक, कृत्रिम, 'न्यूरोटिक' एवं अतिशय व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण फ्रेञ्च प्रतीकवाद को अवनतिशील (Decadent) साहित्य की कोटि में रखा जाता है, यह ठीक भी है, परन्तु उसीसे प्रभाव ग्रहण करने वाले रिल्क (Rainer Maria Rilke), वालेरी (Paul Valéry), और यीट्स (William Butler Yeats) जैसे कवियों को उत्कृष्ट कलाकारों में स्थान देने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होती, और न हो सकती है। इसका कारण स्पष्टतः यही है कि उन्होंने प्रतीकवाद से प्रभाव ग्रहण किया है, उसकी कलुषित प्रवृत्तियों की पुनरावृत्ति नहीं की।

हिन्दी की नई कविता के सम्बन्ध में यदि 'प्रतीकवाद', 'बिम्बवाद' आदि से इन्हीं अर्थों में

१. **'आलोचना' (त्रैमासिक) १, २, ३ के शिवदानसिंह चौहान द्वारा लिखित सम्पादकीय; विशेष रूप से द्वितीय का।**

२. **कुछ प्रसिद्ध कवि बोदलेयर** (Baudelaire), **वर्लेन** (Verlaine), **मालार्मे** (Mellarmé), **रिम्बो** (Rimbaud), **एरी द रेन्ये** (Henri de Régnier), **वर्हेरन** (Verhaeren), **गस्ताव कान** (Gustav Kahn), **क्लोदल** (Claudel), **प्रूस्त** (Proust), **और वालेरी** (Valéry)।

केवल प्रभाव ग्रहण करने की बात कही गई होती तो वह कथन कुछ हद तक ठीक भी होता, क्योंकि कवि के स्वर उन्मुक्त उड़ान के लिए रूढ़ि के द्वार खोलकर नये क्षितिजों को छूने का प्रयास करते हैं; और फिर १९वीं-२०वीं सदी के सन्धि-काल में 'प्रतीकवाद' वस्तुतः ऐसी शक्ति-सम्पन्न धारा रही है कि उसका अध्ययन-अनुशीलन करके और उसके प्रतीक-विधान जैसे शैली-शिल्प को अपनाकर हिन्दी-कविता उसी प्रकार का लाभ उठा सकती है जिस प्रकार का तमाम यूरोपीय साहित्य ने फ्रेञ्च प्रतीकवाद से उठाया है। परन्तु बात इतनी ही नहीं है। आज खुले शब्दों में यह आरोप लगा दिया गया है कि अस्वास्थ्यकर तथा पतनोन्मुख प्रतीकवादी विचार-धारा को हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा की जा रही है—

"प्रयोगशीलता की ओट में अज्ञेय 'प्रतीकवादी' विचार-धारा को साहित्य में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे हैं।···उनकी कविता प्रतीकवादी है।···यद्यपि वादों से ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील', किसी मंजिल तक पहुँचे हुए या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोगशीलता' के छद्म-वेश में तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ में पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा, बल्कि उसे खैरबाद कहने का साधन बनता गया है और उनकी देखा-देखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील चेतना के कवियों के लिए भी वह पाठकों तक पहुँचने के मार्ग में एक बाधा बन गया है।"[1]

हिन्दी-कविता पर फ्रेञ्च प्रतीकवाद का प्रभाव पड़ा है या नहीं ? यदि पड़ा है तो कहाँ, किस रूप में और कितने अंश तक इन प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व हमें प्रतीकवाद की प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है।

: २ :

फ्रेञ्च प्रतीकवाद का अंकुर बोदलेयर में खिला, पुष्प वर्लेन में विकसित हुआ और मालार्मे में उसकी सुगन्धि फैली। जिस प्रकार वोल्तेयर का निखार आनातोल में आया था वैसे ही मालार्मे के सपने पॉल वालेरी में मूर्तिमान् होकर ढले।

प्रतीकवाद की विषय-वस्तु, सौन्दर्य-बोध एवं काव्यगत मान्यताओं को समझने के लिए हम उसके क्रम-विकासपूर्ण इतिहास की ओर नहीं वरन् उसकी भाव-भूमियों एवं सिद्धान्त-धारणाओं की ओर विशेष ध्यान देंगे। भाव-भूमियों पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि तत्सामयिक सामाजिक चेतना के स्तरों को परख लिया जाय।

सामाजिक चेतना

फ्रांस में सन् १८७० में, कतिपय दुर्घटनाओं के बीच 'तीसरे रिपब्लिक' की स्थापना के साथ सच्ची प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की अवतारणा हुई और फलस्वरूप शिक्षा का व्यापक तथा निःशुल्क प्रसार हुआ। परन्तु जर्मनी के आक्रमण और नेपोलियन तृतीय की कायरता के कारण जो नैराश्य और दुश्चिन्ताएँ पहले से फैली हुई थीं वह नवीन जागरण उन्हें जड़ से न हटा सका। इस काल में समाज स्पष्टतया दो वर्गों में बँट गया था। एक ओर तो वह अभिजातवर्ग

१. आलोचना (त्रैमासिक) अंक २ का शिवदानसिंह चौहान द्वारा लिखित सम्पादकीय।

था, जो अपने हितों के लिए धर्म की अफ़ीम का जादू चलाना चाहता था; और दूसरी ओर था वह विस्तृत जन-समाज, जो कि नये जागरण के आलोक में पुरोहितवाद (Clericalism) एवं उसकी विकृतियों को पहचानने में लगा था। नये जनतन्त्र ने जो स्कूल खुलवाये थे उनके अध्यापक और अध्येता दोनों ही बूर्जुआ-वर्ग और पौरोहित्य के विरुद्ध सचेत हो रहे थे। इसकी प्रति-क्रिया-स्वरूप, अभिजात वर्ग ने अपने बच्चों के लिए अलग से उच्च स्तर के धार्मिक स्कूल (écoles libres) खुलवाये। परिणाम यह हुआ कि इन धार्मिक स्कूलों के छात्रों और जनतन्त्रवादी अध्यापकों द्वारा शिक्षित छात्रों में विशेष अन्तर आ गया। धार्मिक स्कूलों के छात्र अपने प्रभावों से फ्रांसीसी सेना के उच्च पदों पर नियुक्त तो हो गए परन्तु सामान्य सैनिकों एवं जन-समाज के विश्वासपात्र न बन सके। इसका दुष्परिणाम तत्कालीन जर्मन-आक्रमणों में स्पष्ट हुआ। आपसी वैमनस्य की यह भावना प्रथम महायुद्ध में कुछ दबी-दबी-सी थी। तब न्याय पर लोगों को विश्वास था। परन्तु 'स्तावीस्की-कुकृत्यों' (Stavisky Scandals) के बाद यह विश्वास भी उठ गया और द्वितीय महायुद्ध में यह आन्तरिक द्वेष और भी स्पष्ट रूप में सामने आया।

इस प्रकार अनेक आन्तरिक कलुषों में निमज्जित फ्रांस की जन-चेतना आलोच्य काल में दोराहे पर खड़ी थी—एक ओर जनतन्त्रवाद, दूसरी ओर पुरोहितवाद। राजनीति के जनतन्त्र-वाद और पुरोहितवाद साहित्यिक साँचे में ढलते-ढलते 'प्रकृतवाद' और 'प्रतीकवाद' में रूपान्तरित हुए, रूपान्तरकार थे—ज़ोला तथा मालार्मे। ज़ोला ने साहित्य में भौतिक विज्ञान को ढाला और मालार्मे ने सौन्दर्य-शास्त्र की प्रतिष्ठा की। एक ओर स्थूल, यथार्थवादी, प्रकृतवादी प्रवृत्तियाँ सचेष्ट हुईं और दूसरी ओर सूक्ष्मतापरक, आदर्शवादी, प्रकृतवाद-विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ।

भाव-भूमि

जर्मन-दर्शन—प्रकृतवाद और प्रतीकवाद एक दूसरे के विरोध में तो उठे ही, परन्तु एक विशिष्ट अन्तर इन दोनों के उद्भव में रहा। अपने जन्म के लिए प्रकृतवाद अपनी ही मिट्टी का ऋणी है। वह ऑगस्त कौंत (Angust Comte), लित्रे (Littré), तेन (Taine) और रनें (Renan) जैसे लेखकों-आलोचकों का स्वाभाविक विकास है। इतना ही नहीं, तत्कालीन शरीर-विज्ञान तथा मनोविश्लेषण-सम्बन्धी नये अनुसन्धानों, विकासवाद के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापनाओं, भौतिक-विज्ञान के नव-नव अन्वेषणों और कुछ अंशतः कतिपय इतिहासकारों की नवीन शोधों ने प्रकृतवाद की प्रवृत्ति के पोषण में यथेष्ट योग भी दिया। परन्तु प्रतीकवाद ने स्वरूप-निर्माण के बहुत-कुछ उपकरण फ्रांस के बाहर से बटोरे। इस धारा की भाव-भूमि को १९वीं सदी के प्रथम चरण के जर्मनी के आदर्शोन्मुख दर्शन ने मुख्यतया अनुप्राणित किया। प्रेरणा के मूल स्रोत थे—कान्ट, फिख्ते, शेलिंग, हेगल और शोपनहॉअर।

फ्रांस में जर्मनी के आध्यात्मिक दर्शन का सर्वप्रथम प्रवेश विक्तूर क्ज़ाँ (Victor Cousin) के लेखों (१८१६-१९) और उसके Fragmens Philosophiques नामक ग्रन्थ से हुआ। उसके बाद कान्ट से लेकर हेगल तक की चिन्तन-धाराओं का रुचि के साथ पठन-पाठन आरम्भ हुआ। जर्मन आदर्शवाद में कुछ ऐसा जादू था कि वह केवल दर्शन के छात्रों तक सीमित न रहकर जन-मन पर भी छा गया। वैग्नर और शोपनहॉअर मुख्य विषय बने। तत्कालीन नैराश्य-पूर्ण संशयों ने शोपनहॉअर की इच्छा-शक्ति (Will) सम्बन्धी चिन्तना को आत्मसात् कर लिया।

रहस्य-वृत्ति

प्रतीकवाद को उसके यथार्थवाद-विरोधी आन्दोलन में जो सबसे बड़ा सहायक मिला वह था 'रहस्यवाद'। रहस्यवाद का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथा पारलौकिक चिन्तन से है, अतः वह अ-बौद्धिक ही नहीं बौद्धिकता-विरोधी भी होता है। प्रकृतवाद ने यथानुरूप निदर्शन को ही मुख्य विषय बनाने के कारण कवियों और कलाकारों की व्यक्तिगत संवेदनाओं को उभरने तथा विकसित होने का कोई अवसर नहीं दिया। व्यक्तिपरक कवियों के मनस-कक्ष में सजने-सँवरने वाली अद्भुत कल्पनाओं के लिए प्रकृतवाद में कोई स्थान न था। प्रकृतवाद की इस कमजोरी ने रहस्य-वृत्ति को अपने विरोध में सहज ही ला खड़ा किया। रहस्य-वृत्ति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए ऑरलिआक (Orliac) ने उसकी एक लम्बी परम्परा फ्रेञ्च साहित्य में गिनाई और शाताब्रियाँ (Chateaubriand) तथा लामेर्तीन (Lamartine) से लेकर बाल्ज़ाक (Balzak) तक को इसमें सम्मिलित कर लिया।[1] प्रसिद्ध आलोचक वाइज़वा (Teodor de Wy zewa) ने एक पत्रिका में ऐसी रचनाओं की सूची प्रकाशित की, जो रहस्योन्मुख थीं और इस प्रकार रहस्यवाद की बढ़ती हुई सफलता सिद्ध की।[2]

पूर्ववर्ती कविता-धारा—'पारनेशनिज्म'

यद्यपि प्रतीकवाद ने अपने स्वरूप-निर्माण के लिए यथेष्ट बाह्य प्रभावों को ग्रहण किया परन्तु तत्कालीन 'पारनेशनिज़्म' (Parnassianism) तथा यथार्थवाद (Realism) के प्रति प्रतिक्रिया ही उसके उद्गम का मूल कारण थी। 'पारनेशन' धारा के गोत्ये, लकाँत तथा हेरेधिया केवल ऐतिहासिक वृत्त और प्रकृत-रूपों को यथावत् व्यक्त करने में प्रवृत्त थे। कविता की ये प्रवृत्तियाँ वस्तुपरक, नैराश्यपूर्ण, संशयात्मक तथा कल्पना-विरोधी थीं।

मालार्मे का दृष्टिकोण :

"पारनेशन कवि विषय-वस्तु को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण करते हैं और उसी रूप में हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार उनमें रहस्य-वृत्ति का अभाव रहता है। रहस्य के कारण विषय-वस्तु को समझने के प्रयत्न में धीरे-धीरे विश्वास करने का जो सम्मोहक आनन्द हमें प्राप्त होता है उससे हमारा मस्तिष्क वंचित रह जाता है। कविता का आनन्द तभी मिलता है जब कि हमें सन्तोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं परन्तु स्पष्टतया कथन कर देने से कविता का तीन चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस् चेतना को वही प्रिय है जो संकेत करता हो, सचेत करता हो।"

और प्रतीकवादी वस्तुतः संकेत करते थे, अभिव्यक्त नहीं; जिज्ञासाओं को सचेत करते थे, शान्त नहीं।

अँग्रेज़ी प्रभाव

वाद के रूप में फ्रेंच प्रतीकवाद का उद्भव बोदलेयर से माना जाता है, परन्तु शैली के रूप में इसके प्रथम दर्शन हमें वीये (Villiers de l'Isle Adam) की 'Axel' नामक कृति में होते हैं। बोदलेयर ने पो (Edgar Allan Poe) को खोज लिया था। यह प्रतीकवादी धारा

१. **रहस्य-वृत्ति-प्रधान अन्य फ्रेञ्च कवि**—Guatta, Papus, M. Barrés Dutus, Moris, Schuré, Vuillaad, Péladan.

२. **पत्रिका**—Revue Indépendante, 1887.

के प्रारम्भिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। १८४७ में ही वह पो का अध्ययन कर चुका था और १८५२ में उसने पो की कहानियों का अनुवाद भी किया था। वर्लेन इंग्लैण्ड में रहा था, इंग्लिश अच्छी जानता था। मालार्मे फ्रेंच स्कूलों में अँग्रेजी का अध्यापक था। इस प्रकार प्रतीकवाद के प्रवर्त्तकों ने किसी-न-किसी रूप में अँग्रेजी प्रभाव भी ग्रहण किये। १८६२-६४ में मालार्मे स्वयं केवल पो की भाषा को समझ सकने के लिए लन्दन गया था। प्रतीकवाद पर पो के 'सौन्दर्यवाद' का प्रभाव स्पष्ट है।

यद्यपि सेंत ब्युव (Sainte Beuve) के समान असाधारण व्यक्तित्व वाला कोई सत्समालोचक प्रतीकवाद को नहीं मिला परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रतीकवादियों ने अपने सिद्धान्तों की अवतरणाओं और उनके प्रचार में कोई कमी उठा रखी हो। प्रतीकवादी साहित्य का सर्वाधिक सृजन १८८५ तथा १८६२ के बीच के सात वर्षों के अल्प-काल में हुआ। इस काल में लगभग १०० पत्र-पत्रिकाएँ पैरिस से प्रकाशित होती थीं। दुजार्दें (Edourd Dujardin), वाइज़वा (Teodor de Wy zeva), गूरमों (Remy de Gourmont) तथा मोरेआस (Jean Moréas) आदि आलोचकों के अतिरिक्त, बोदलेयर तथा मालार्मे जैसे कवि काव्य-मूल्यों के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं की नियोजना करते थे। परन्तु प्रतीकवादी धारा की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह थी कि उसके कवियों ने जो लिखा है वह उससे भिन्न है जो कि वे लिखना चाहते थे अथवा जिसके सिद्धान्तों का वे प्रचार किया करते थे। इस धारा के कवियों के बीच कोई जोड़ने वाली कड़ी है तो वह बस यही कि वे अपनी कविताओं में प्रतीकों की योजना पर बल देते थे। पर इस प्रतीक-योजना की विविध शैलियाँ कवियों ने अपनाई और अपनी-अपनी शैली के समर्थन में विभिन्न धारणाएँ स्थापित कीं।

इस प्रकार इनके सिद्धान्त आन्तरिक वैभिन्न्य और अन्तर्विरोधों से भरे हुए हैं, फिर भी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों की विवेचना के लिए हमें इन बेमेल तथा परस्पर विरोधी धारणाओं को एक ही लड़ी में अनुस्यूत करना होगा।

काव्यगत सिद्धान्त और समीक्षा की मान्यताएं

कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार प्रत्येक भाव जो हमारे हृदय में उठता है, प्रत्येक अनुभव जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के माध्यम से हमें मिलता है और प्रत्येक क्षण जो कि हमारी मनस्-चेतना को एक विशिष्ट तरंग में झंकृत कर जाता है, एक-दूसरे से सटे रहकर भी इतना विलग, इतना अछूता, इतना गतिशील और इतना अग्राह्य होता है कि न तो हमारी अभिव्यक्ति उसे यथावत् पकड़ पाती है और न स्मरण-शक्ति ही उसके वास्तविक स्वरूप को सहेजकर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार अपने इन अनुभवों को अपने दृष्टिकोण की विशिष्टता से देखता है और अपनी रुझान के अनुरूप अभिव्यक्ति में रँग प्रकाश की नियोजना करता है। परन्तु बोदलेयर के मत से अभिव्यक्ति की यह क्रिया इतनी त्वरित होती है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति दो क्रियाएँ न होकर एक ही प्रक्रिया के दो रूप बन जाते हैं। यह प्रक्रिया स्वयं में इतनी अखण्ड है कि काव्य के अन्तर्गत विषयवस्तु और रूप-तत्त्व जैसे विभेद किये ही नहीं जा सकते।[1]

---

1. "The truly artistic element of style, or form, as he (Baudelaire) calls it,......cannot be treated apart from the matter which it clothes; or rather in art, the subject cannot be regarded in isolation from the way in which the artist approaches it, nor the work of art be divided into two water-tight sections, subject and form,

व्यक्तित्व के वैभिन्नय के साथ ही अनुभूतियों, संवेदनाओं और अनुभवों में अन्तर होता है और इसीलिए अभिव्यक्ति कौशल की कोटियों में। एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भार कैसे वहन कर सकती है? अतः स्वभावतया प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यंजना के लिए नये मार्गों का अनुसन्धान, नये शैली-शिल्प की अवतारणा, नये बिम्बों की योजना और नये प्रतीकों का विधान करना पड़ता है। परन्तु अनुभूत विषय फिर भी इतने अग्राह्य, अनुपम और अकथनीय होते हैं कि उनका संकेत-मात्र किया जा सकता है, स्पष्टतया कथन नहीं किया जा सकता; केवल वे व्यंजित हो सकते हैं, अभिव्यक्त नहीं। प्रतीकवादी कवियों ने भाषा की इस असमर्थता को समझा और उसे शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए एक दूसरा मार्ग खोज निकाला। जिस प्रकार लय, गति और ताल की सूक्ष्म लहरों पर संगीत तैरता है उसी प्रकार उन्होंने ध्वनि-संकेत तथा बिम्ब-संकेत के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को अनुभूत संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रोमांचों (Sensations) का वाहक बना दिया। मालार्मे की समस्त कल्पना-सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु था 'रोमांच', और इसे वह सर्वोपरि मानता था। बोदलेयर ने जिस प्रकार 'अनु-विधायकत्व' (Correspondences) को महत्त्वपूर्ण ठहराया था उसी प्रकार मालार्मे तथा प्रूस्त 'रोमांच' के आगे बाह्य एवं अन्तर्जगत् के बोध (Perception), बौद्धिकता (Intellect) तथा भावना (Feeling) का पूर्ण बहिष्कार किया। प्रतीकवादी कवियों ने 'ध्वनि' (Sound) और 'सुगन्धि' (Perfume) की अजीब-अजीब धारणाएँ प्रवर्तित कीं। अन्तर्मन की यादगारें, ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ, सूक्ष्मतम तरंगें (Vibrations) और रहस्यपूर्ण संकेत ही कविता की विषय-वस्तु बने। फ्रेंच प्रतीकवाद ने इस प्रकार अन्धकार और प्रकाश की मध्यस्थ साँझ की तरह 'अर्ध-प्रकाश' (Half-lights) की धारा बहाई और तत्कालीन आलोचकों ने अस्पष्टता को काव्य का एक गुण मान लिया।

सृष्टि के सम्बन्ध में प्रतीकवादियों के विचार अद्भुत थे। वे यह मानते थे कि गोचर जगत् वास्तविक सृष्टि नहीं है, उसका मिथ्या-रूप (Distortion) है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। यदि अलौकिक सृष्टि के गीत गाए जायँ तो अभिव्यक्ति को अनिवार्यतः रहस्यमय होना चाहिए, और यदि गोचर-जगत् का कथन करना हो तो हम केवल उसके मिथ्या-रूप को ही अभिव्यक्त कर सकते हैं। अतः वस्तु-जगत् से अनुप्रेरित रचनाओं में केवल दुर्बलताओं, नैराश्यपूर्ण विभ्रमों, गुनाहों तथा कुत्सित चेष्टाओं का वर्णन ही प्रतीकवादियों ने अधिक किया। वस्तु-जगत् की कमियों और दरारों को इन कवियों ने अलौकिक सृष्टि के प्रवेश-द्वार के रूप में देखा। प्रकृतवादी भी दरारें देखते थे, परन्तु वे इनको भर देना चाहते थे; किसी दूरस्थ लोक का सोपान नहीं बनाना चाहते थे।

वैग्नर से प्रभाव ग्रहण करके प्रतीकवादियों ने संगीत पर बल दिया परन्तु कविता को उससे अधिक उत्कृष्ट ठहराया। संगीत में ध्वनि प्रधान होती है, कविता में शब्द; ध्वनि निरर्थक होती है, शब्द सार्थक। कविता सार्थक शब्द-योजना द्वारा हमारी समस्त 'इन्द्रिय-चेतना' को

---

with the former prior to, and more important than, the latter. For the instant artist seizes on his subject, he has already formed an attitude towards it."

—A. G. Lehmann, "The Symbolist Aesthetic in France," p. 32

जगाती है। हम उसे केवल पढ़ते (रूप) अथवा सुनते (शब्द) ही नहीं, वरन् उसके सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य-बोध (रस) से, भाव-वीथियों को सुरभित कर देने वाली सूक्ष्म उद्भावनाओं (गन्ध) से, और अन्तर्मन के तार-तार झंकृत कर देने वाली प्रेषणीयता (स्पर्श) से निरन्तर स्पन्दित होते रहते हैं। ऐसी कविता में और भी निखार ले आने के लिए प्रतीकवादियों ने मुक्त-वृत्त में रचना करने के बावजूद भी उसे संगीतात्मकता से अभिषिक्त किया।

मालार्मे प्रतीकवादी धारा का एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि था। कविता के सम्बन्ध में उसकी निजी मान्यताएँ थीं। यह बात दूसरी है कि वह जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता था उन्हें स्वयं चरितार्थ न करता था, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने समकालीन एवं पश्चात्वर्ती कवियों पर इतना गहरा और व्यापक प्रभाव शायद ही संसार के किसी अन्य साहित्यकार ने डाला हो। प्रतीकवाद का आकलन इस रहस्यमय कवि तथा चिन्तक के सिद्धान्तों की चर्चा किये बिना अधूरा ही रह जायगा।

मंगलवार की हर शाम को पेरिस के 'रोम-मार्ग' (Rue-de-Roma) में अपने कक्ष के शान्त तथा धार्मिक-जैसे वातावरण में मालार्मे धीमी और संगीतमय आवाज में प्रश्नरूप में प्रतीकवादी सिद्धान्तों का उपदेश देता था। तत्कालीन साहित्यिक प्रतिभाओं में शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जो इस गोष्ठी में सम्मिलित न होता हो।[1] अपने और संसार के बीच में व्यवधान बनाये रखने के लिए वह सिगरेट का धुआँ उड़ाया करता था; उसकी पत्नी बिनाई करती थी और बेटी अतिथियों की अगवानी। गोष्ठी में आये सभी अतिथि मन्त्र-मुग्ध होकर मालार्मे के रहस्यमय कथनों की गहराई तक उतरने का प्रयास करते थे। विशेषता यह थी कि यद्यपि वे मालार्मे द्वारा पढ़ाये गए पाठों को भूल जाते थे परन्तु उस वातावरण के अजीब-से अनुभवों को याद रखते थे और यही उनकी अन्तर्प्रेरणा के लिए पर्याप्त था।

मालार्मे न तो 'क्लासीकल' कविता से ही किसी प्रकार प्रभावित था और न 'रोमाण्टिक' से। इसलिए उसने क्लासीकल कविता की 'बौद्धिकता' और रोमाण्टिक कविता की 'भावना' दोनों का तिरस्कार करके इन्द्रिय-चेतना (Sensuality) पर बल दिया और 'रोमांच (Sensation) को ही सर्वोपरि ठहराया। उसने सिद्ध किया कि कविता में प्रयुक्त शब्द 'रोमांच' के प्रतीक हैं। ये रोमांच उस अकथनीय सत्य के प्रतीक हैं जिसका कि हम अनुभव-मात्र कर सकते हैं।

प्रतीक की व्याख्या करते हुए मालार्मे कहा करता था कि जो बोधगम्य हो वह और चाहे जो-कुछ हो 'प्रतीक' नहीं है। सम्भवतः इसीलिए मालार्मे की अधिकांश रचनाएँ दुर्बोध हैं, अगम्य हैं। फिर भी उसकी प्रारम्भिक रचनाएँ— Guignon से लेकर Hérodiade तक— सुगम तथा सुन्दर हैं। परन्तु मालार्मे की प्रसिद्धि इन प्रारम्भिक रचनाओं के बल पर नहीं, उसके अधिकांश 'सॉनेट' और 'फॉन (रोम का पौराणिक अर्ध-देवता) की दोपहरी' (Aprés-Midi d'un Faune)[2] जैसी रचनाओं पर आधारित है और ये रचनाएँ पूरी तरह बोधगम्य नहीं हैं।

---

१. **कतिपय अतिथि**—Huysmans, Whistler, Degas, Moréas, Laforgue, Vielé Griffin, Paul Valéry, Henri de Régnier, Pierre Lohys, Paul Claudel, Remy de Gourmont, Gide, Wilde, Arthur Symons, George Moore, W. B. Yeats.

२. **यह रचना फ्रांस में अभी भी जनप्रिय है। दो वर्ष पूर्व वहाँ बड़ी धूमधाम के साथ**

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह दुरूहता जान-बूझकर प्रतीकवादियों द्वारा लाई जाती थी अथवा स्वतः उद्भूत होती थी। मालार्मे में इसका उत्तर हमें यही मिलता है कि इस दुरूहता का कुछ भाग तो अवश्य ही जान-बूझकर लाया जाता था। वह कविता में रहस्य एवं अन्य विशिष्ट वृत्तियों के साथ दुर्बोधता को भी निश्चित 'पैटर्न' (Pattern) में बुन दिया करता था। रहस्यात्मकता और दुरूहता का साथ सदैव रहा करता है। मालार्मे रहस्य-वृत्ति का उपयोग साधन के रूप में करता था।[1]

सत्य के अलौकिक संसार की जो झलक हम देखते, सुनते अथवा अनुभव करते हैं उसकी सौन्दर्यपरक अभिव्यक्ति ही मालार्मे के अनुसार काव्य का लक्ष्य होना चाहिए।

मालार्मे जगत् के मिथ्यात्व का निदर्शन करता था, अतः प्रेम और अहं पर उसे कोई विश्वास न था।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि अंग्रेजी के प्रतीक-विधान करने वाले सन्त कवि ब्लॉक को मालार्मे ने अपनी प्रेरणा के लिए ग्रहण नहीं किया। हो सकता है कि वह उसे आविष्कृत न कर सका हो, यद्यपि वह फ्रांस में अंग्रेजी का ही अध्यापक था।

मालार्मे 'शब्द' को अतिरंजित महत्त्व देता था। किसी पुस्तक की भूमिका लिखते हुए लिटन स्ट्रेची ने मालार्मे के इस सिद्धान्त पर अच्छा प्रकाश डाला है। कवि तथा चित्रकार दगाँ (Degas) जब चित्र बनाते-बनाते थक जाता था तो गीत लिखा करता था। एक बार जब वह गीत नहीं बना सका तो मालार्मे से जाकर कहा कि न जाने क्यों मैं आज कविता नहीं लिख पा रहा हूँ यद्यपि बहुत से विचार (Ideas) मेरे मन में हैं। मालार्मे ने समझा दिया—कविता 'विचारों' से नहीं 'शब्दों' से लिखी जाती है।

प्रतीकवादी आलोचक मोरेआस (Moréas) ने सर्वप्रथम १८ सितम्बर १८८६ को 'फिगरो' (Figaro) नामक पत्र में प्रतीकवादी धारा के उदय की घोषणा की थी। वह इस ओर भी प्रयत्नशील रहा कि 'डिकेडेन्ट' (Decadent) और प्रतीकवादी साहित्य में पार्थक्य बना रहे। आनातोल बजु (Anatole Baju) के 'Le Decadent' नामक पत्र ने जो वर्लेन की छाया में चल रहा था, यह भेद बनाये रखा। परन्तु यह भेद अधिक दिनों तक नहीं रहा। छन्द और प्रतीक-विधान में वैविध्य होने पर भी विषय-वस्तु में दोनों धाराएँ एक हो गईं, और दोनों ही स्वप्न तथा संगति की पार्श्वभूमि पर प्रवाहित हुईं।

मोरेआस प्रतीकवादी धारा के साथ सदैव नहीं रहा। अन्तिम क्षणों में वह क्लासीकल धारा की ओर लौट गया और छन्द-शास्त्र के पुराने रूपों को अपनाया।

यूबर्त (Joubert) के अनुसार प्रतीकवादी कविता की कसौटी यह थी—

''वही कविता सुन्दर है जो अपने आपको 'ध्वनि' और 'सुगन्धि' की भाँति उच्छ्‌वसित

इसका 'बैले' (Ballet) खेला गया। कला के हर विभाग के शीर्ष कलाकारों ने इसमें भाग लिया।

—The Journal of Aesthetics & Art Criticism, December, 1951.

1. "Mystery was in Mallarmé's view, one of the poet's instruments..."

—Charles Mauron, 'The poems of Mallarme' p. 7.

करती हो।"

ये 'ध्वनि' और 'सुगन्धि' सम्बन्धी सिद्धान्त ध्वनि और सुगन्धि की ही भाँति सूक्ष्म और अग्राह्य हैं; सम्भवतः इसीलिए किसी समीक्षक ने इन्हें 'हस्तामलकवत्' अधिकृत नहीं किया।

व्यक्ति-दर्शन

प्रतीकवाद के सिद्धान्त तथा उसकी धारणाओं पर दृष्टि-निरोध कर लेने के बाद यह संगत होगा कि हम संक्षेप में कुछ प्रतीकवादी कवियों के व्यक्तित्व को भी परख लें।

वर्लेन अपने वस्तु-तत्त्व में अप्राकृतिक, अधार्मिक, स्वप्निल, अस्वास्थ्यकर एवं अति-वैयक्तिक प्रवृत्तियों को लाकर भी धार्मिक था और धार्मिक होने के बावजूद भी अनैतिक, कुत्सित एवं घृणास्पद व्यक्तित्व का भार ढोता था। उसकी ज़िन्दगी के वृत्त में केवल इतनी चीज़ें थीं— शराब, कविता, धर्म, दुष्टता, जेल और अस्पताल। रिम्बो ने वर्लेन द्वारा दिये गए पूर्व आघातों का प्रतिकार करने के लिए उसे बड़ी निर्दयता से मार-पीटकर एक गड्ढे में छोड़ दिया था। चोर और डाकुओं के सरदार कवि फ्रांस्वा वीयों की चरित्र-गाथा यहाँ आकर धुँधली पड़ गई थी। प्रतीकवादी कवियों के व्यक्तित्व का एक छोर यह हुआ और दूसरे छोर पर मालार्मे जैसे साधक, चिन्तक और अंशतः धार्मिक कवि आते हैं। धर्म की प्रवृत्ति अधिकतर कवियों में हमें मिलती है। पॉल क्लोदल १८८६ में कैथॉलिक हुआ, वर्लेन १८७४ में जेल में, और पेजी (Péguy) तथा लेओं ब्लाय (Leon Bloy) बाद में कैथॉलिक हुए। प्रूस्त और वालेरी पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु बर्गसां मालार्मे का हमराही था; उसने नये धर्म का भी प्रवर्तन किया।

प्रतीकवाद की देन

(१) शैली तथा व्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोग करके कविता को रूपात्मकता (Formalism) के सभी रूढ़िग्रस्त प्रकारों से उन्मुक्त किया।

(२) परम्पराबद्ध छन्द 'अलेक्जेन्द्रीन' (Alexandrnie) जो कि क्लासीकल दुःखान्त काव्य में विशेष रूप से अपनाया गया था, अपनी निश्चित मात्राओं के कारण नवीन उद्भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में अशक्त था। सबसे पहले प्रतीकवादियों ने ही उसकी निश्चित मात्रा की रूढ़ि को समाप्त किया।

(३) अतुकान्त तथा मुक्त छन्द की अवतारणा की।

(४) कविता और संगीत में सामञ्जस्य स्थापित किया।

(५) साहित्य को राजनीति द्वारा ग्रसित होने से बचाये रखा।

(६) सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा की।

प्रतीकवाद के प्रभाव का क्षितिज अत्यन्त व्यापक है। उसके अन्तर्गत यीट्स, जेम्स ज्वॉयस, गर्ट्रूड स्टाइन, प्रूस्त, वालेरी, रिल्क, ह्विटमैन, अलेक्जेन्डर ब्लॉक, सैंडबर्ग और इलियट जैसी विविध निकायों की प्रतिभाएँ आ जाती हैं।

: ३ :

प्रतीकवाद का उदय यथार्थवाद एवं प्रकृतवाद के विरोध में हुआ। उसने हेगल तथा शोपनहॉअर का जीवन दर्शन ग्रहण किया और रहस्य-वृत्ति एवं अस्पष्टता को कविता का अनिवार्य गुण माना। बोदलेयर ने विषय-वस्तु और रूप-तत्त्व में विभेद न रखकर उसे एक अखण्ड प्रक्रिया

माना। मालार्मे ने शब्द-संकेत पर बल देकर अभिव्यक्ति पक्ष की महत्ता प्रतिपादित की। बौद्धिकता (Intellect) और भावना (Feeling) का बहिष्कार करके 'रोमांच' (Sensation) को सब-कुछ माना गया और 'ध्वनि' (Sound) तथा 'सुगन्धि' (Perfume) की सूक्ष्मतम गहराइयों को मापा गया। छन्द के नियम भंग हुए, मुक्त-वृत्त लाये गए और संगीत को अपनाया गया। यद्यपि प्रतीकवाद के 'प्रतिपादक' कवियों ने रहस्यमय, न्यूरॉटिक, अस्वास्थ्यकर एवं अति वैयक्तिक प्रवृत्ति को अपनाया, परन्तु प्रतीकवाद से 'प्रभावित' कवियों ने प्रतीकों की नई शैली अपनाकर अपनी स्वस्थ रचनाओं को नये आलोकों में दीप्तिमान् किया। संक्षेप में प्रतीकवाद के यही आयाम (Dimensions) हैं। अब हम विचार करेंगे कि हिन्दी के नये कवियों पर प्रतीकवाद के अस्वस्थ तथा रोगी पक्ष को अपनी कविता में पुनरुज्जीवित करने का जो आरोप लगाया गया है वह कहाँ तक समीचीन है।

शिवदानसिंह चौहान के पूर्वोद्धृत कथन में स्पष्टतः दो आरोप हैं—

(क) अज्ञेय की कविता प्रतीकवादी है;

(ख) प्रतीकवाद 'प्रयोगवाद' के छद्म-वेष में आ रहा है।

(क) मनोविज्ञान में 'स्वप्न-प्रतीक' (Dream-Symbol) का जो फ्रायडियन सिद्धान्त है, उससे साहित्य की प्रतीकवादी धारा का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। 'स्वप्न-प्रतीक' के सिद्धान्तों के सहारे हम किसी भी कवि के अवचेतन मन के स्तरों को खोल सकते हैं और उसकी मानसिक ग्रन्थियों की निधि को उसकी रचनाओं में यत्र-तत्र खोज सकते हैं। जो कवि या कलाकार यौन-कुण्ठाओं से आक्रान्त होता है उसके छवि-संकेतों एवं प्रतीक-विधानों में वैसी आहट मिल जाया करती है। परन्तु इन प्रतीकों के आधार पर हम उस कवि अथवा कलाकार को साहित्य की विशिष्ट प्रतीकवादी धारा का कवि या कलाकार मानने जैसी भूल कदापि नहीं कर सकते। अभाग्यवश अज्ञेय के साथ यही हुआ है। 'तार सप्तक : प्रथम भाग' में उन्होंने अपने निम्न सिद्धान्त व्यक्त किये हैं—

"...आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं।" (पृष्ठ ७६)

निश्चय ही उनके इन सिद्धान्तों में फ्रायड का स्वर है। अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में उन्होंने अपनी 'सावन-मेघ' शीर्षक कविता का उदाहरण दिया है जो यौन-प्रतीकों से परिपूर्ण है। अपने इस सिद्धान्त में, अपनी 'सावन-मेघ' रचना में और वैसी ही अन्य रचनाओं में अज्ञेय स्पष्टतया फ्रायडवादी हैं। जिन यौन-प्रतीकों की चर्चा और रचनाओं में अवतारणा उन्होंने की है वे मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं, प्रतीकवादी धारा से नहीं। 'स्वप्न-प्रतीक' और प्रतीकवादी धारा के अन्तर को न समझकर अज्ञेय की कविता को फ्रायडवादी न कहकर प्रतीकवादी कहने की जो भूल की गई है वह शिवदानसिंह चौहान जैसे जागरूक समीक्षक से अपेक्षित न थी।

इन यौन-प्रतीक-प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त अज्ञेय की जो अन्य रचनाएँ हमारे सामने आती हैं वे भी प्रतीकवादी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि विषय-वस्तु के दृष्टिकोण से अज्ञेय टी. एस. इलियट के अधिक निकट हैं, बोदलेयर या मालार्मे के नहीं। फ्रैंच कवियों जैसी रहस्यवृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, 'रोमांच' का मोह और अलौकिक सौन्दर्य-सृष्टि का आग्रह अज्ञेय में

नहीं है। बोदलेयर और मालार्मे दोनों ने ही बौद्धिकता (Intellect) का तिरस्कार किया था। इसके विपरीत इलियट के बिम्ब-विधान (Imagery) में बौद्धिकता का स्वर प्रमुख है; और यही बात अज्ञेय के साथ भी है।

प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय में यदि कोई सम्बन्ध है तो वह यह कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूँढ़ने की बात कही है। परन्तु फ्रैंच कवियों के प्रतीक-सम्बन्धी सिद्धान्त रहस्यों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से भरे थे। अज्ञेय में यह बात नहीं है। नये उपमानों के बारे में उनकी दलील इस प्रकार है—

"अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार न्हायी कुँई;
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है!
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है
·······अगर मैं यह कहूँ—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की?
(क्या तुम नहीं पहचान पाओगी)"

—*अज्ञेय*

और निश्चय ही 'बिछली घास' तथा 'छरहरी कलगी' जैसे प्रतीक अज्ञेय को उनकी कविताओं की शुष्कता, बौद्धिकता, लय-गति-हीनता और कहीं-कहीं यौन-विकारों की प्रमुखता के बावजूद भी कविता के नये प्रयोगों का दिशा-निर्देशक बना देते हैं।

(ख) यूरोपीय साहित्य की जिस प्रवृत्ति को प्रतीकवाद नाम दिया गया था उसमें प्रतीक-विधान रूप-शिल्प का एक उपकरण अवश्य था परन्तु वह अन्य अनेकानेक प्रमुखतर वृत्तियों के आगे महत्त्वपूर्ण न था। अतः प्रतीकवादी धारा से प्रतीक-विधान का आशय कम, सौन्दर्यवाद, आदर्शवाद, स्वप्निल अस्पष्टतावाद और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अखण्ड प्रक्रिया-सम्बन्धी मान्यताओं का तात्पर्य अधिक लिया जाता है। इसीलिए अँग्रेजी आलोचक न तो ब्लॉक जैसे प्रतीक-विधाता को प्रतीकवादी धारा का कवि मानते हैं और न प्रतीकवाद की प्रतीक-योजना से प्रभावित बिम्बवादी (Imagist) इलियट को ही प्रतीकवादी कहते हैं। परन्तु हिन्दी के समक्षिकों का यह दुराग्रह है कि प्रतीक-योजना पर बल देने वाले हर कवि को वे प्रतीकवादी मानने लगते हैं।

नई कविता पर लगाये गए द्वितीय आरोप के विषय में हमें यही कहना है कि प्रयोगवाद के छद्म-वेष में प्रतीकवाद नहीं वरन् प्रयोग के माध्यम से नई अभिव्यक्ति, नये प्रतीक और नये विचारकोण आ रहे हैं और हम इनका साहित्यिक जागृति के नये धरातल पर स्वागत करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रतीकों और शैली-शिल्पों के मौजूदा प्रयोग अभी अधिकांशतः कच्चे और उथले हैं। तार-सप्तकद्वय में बहुत कम रचनाएँ ऐसी हैं जो नूतन अभिव्यक्ति और सीधी प्रेषणीयता (Communicability) का सामंजस्य उत्पन्न कर सकी हों।

हम प्रेषणीयता को काव्य का अनिवार्य गुण मानते हैं, और प्रतीक-विधान के आगे प्रेषणीयता प्रश्न-चिह्न-सी जुड़ी रहती है, क्योंकि भाव-संकेतों और प्रतीक-विधानों के नयेपन को परखने से पहले हमें यह देखना पड़ता है कि इनकी नियोजना स्वाभाविक रूप में हुई है या बोझ रूप में। दूसरे शब्दों में इन नये प्रयोगों ने प्रेषणीयता को अपनाया है या ठुकराया है? फ्रैंच प्रतीकवाद और प्रतीकवादोत्तर यूरोपीय साहित्य में हमें प्रेषणीयता की कमी स्पष्ट लक्षित होती है। हिन्दी-कविता को इस अमांगलिक संक्रमण से रक्षा होनी चाहिए। परन्तु इस दलील की ओट में न तो हमें नई प्रवृत्तियों और नये मोड़ों का बहिष्कार ही करना चाहिए और न सरलतम अभिव्यक्ति का बहाना बनाकर कविता में राजनीति के वाक्यों को ही दुहराना चाहिए।

नई कविता में अधिकांशतः अभिप्रेत प्रेषणीयता का अभाव है, हम यह मानते हैं; परन्तु यह भी मानते हैं कि इस कमी की पूर्ति होनी चाहिए, त्रुटि में सुधार होना चाहिए, नई कविता का तिरस्कार नहीं। यह अभाव अधिकांशतः है, सर्वांशतः नहीं। कुछ कवि अवश्य ही ऐसे हैं जो शिल्प-कौशल और संवेदनशीलता के संगम पर खड़े हैं। उदाहरणार्थ गिरिजा-कुमार माथुर टेकनीक पर बल देकर और हिन्दी कविता के शैली-शिल्प को एक स्पृहणीय ऊँचाई तक उठाकर भी सुगम और संवेदनशील हैं, और भवानीप्रसाद मिश्र सरलतम अभिव्यक्ति के मामले में शिवमंगलसिंह 'सुमन' से कुछ आगे बढ़कर अनुपमेय प्रेषणीयता लाकर भी नई उद्भावनाओं के स्रष्टा हैं, नये प्रतीकों के नियोजक हैं। तात्पर्य यह है कि नूतन प्रतीक-विधान और प्रेषणीयता परस्पर विरोधी नहीं हैं, इनमें मैत्री सम्भव है।

द्वितीय सप्तक में नये बिम्बों, नये प्रतीकों और नई उद्भावनाओं का सर्वाधिक सृजन हमें नरेश मेहता में मिलता है; परन्तु परिमाण में अधिक होने पर भी गुण में उत्कृष्ट नहीं हैं। मर्मस्पर्शी अनुभूति और प्रेषणीयता के अभाव में कहीं-कहीं कविता पर इनको हठात् थोपा गया है। 'समय देवता' शीर्षक रचना में अपूर्व उद्भावनाओं का बृहदकोष और नूतन प्रतीकों के नगीनों का भण्डार हमें उपलब्ध है परन्तु वस्तुपरिगणना के आधिक्य एवं संवेदनशीलता के अभाव में ऐसा लगता है कि जैसे वे कविता की निष्प्राण देह का असफल शृङ्गार कर रहे हों। शमशेर नूतन अभिव्यक्ति-शैली के चक्कर में पहेलियाँ बुझाते-से जान पड़ते हैं। इस प्रकार प्रतीकों के अधिकांशतः प्रयोग प्रेषणीयता की दृष्टि से सफल प्रयोग नहीं हैं।

सप्तक परिवार के बाहर भी कुछ कवि ऐसे हैं जो कविता में नई अभिव्यक्ति ला रहे हैं, नये प्रतीकों का सृजन कर रहे हैं। रांगेय राघव की 'कोयले की खान की मजदूरिनी-सी भार ढोती रात' इसका उदाहरण है। नई कविता की एक अन्यतम प्रवृत्ति यह है कि वह अपने देश की मिट्टी में सने-सौंधे ग्रामगीतों की मिठास को मुखर करने की ओर सचेष्ट है। यह मिठास केदारनाथ सिंह में छककर आ रही है।

यूरोप के विविध साहित्यिक निकायों ने काव्यगत मान्यताओं के अनेकानेक द्वार खोले हैं। हमें इन उन्मुक्त द्वारों से आते हुए प्रकाश को और जीवनप्रदायिनी वायु की ताजगी को ही ग्रहण करना चाहिए, उसके साथ बह आने वाले विषैले कीटाणुओं को नहीं। आज हिन्दी-साहित्य जिस चौराहे पर खड़ा है वहाँ तक वही आ पाए हैं जो व्यक्ति और समाज के हितों के प्रति जागरूक हैं। ऊँघने वाले पीछे छूट चुके हैं; अतः प्रबोधन के इस अवसर पर, पतनोन्मुख साहित्य (Decadent Literature) में हिन्दी कविता की परिणति की आशंकाओं को हम निराधार मानते हैं। जो दो-एक स्वर अ-सामाजिकता और वैयक्तिककुण्ठाओं के पक्षधर हैं वे जनहितवाद के प्रखरतम आलोक के आगे अधिक क्षणों तक न टहर सकेंगे; उन्हें झुलसना ही पड़ेगा। जिस प्रकार प्रयोग के नाम पर दुरूहता, अतिवैयक्तिकता और दूषित मनोवृत्तियों को कविता के गले मढ़ना हिन्दी के लिए अमंगलविधायक है, उसी प्रकार नई कविता को यूरोप की विभिन्न प्रवृत्तियों की अनुकृति समझकर, उसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व न मानते हुए, कतिपय घिसे-पिटे विदेशी वादों को उसकी अविकसित अपहुँची दिशाओं पर बलात् थोप देना समीक्षा के दायरे को बहुत सीमित कर लेना है।

नई कविता प्रतीकवादी है या गैर-प्रतीकवादी, केवल इस प्रकार के आरोपण-उन्मूलन और खण्डन-मण्डन से नई कविता तथा हिन्दी समीक्षा का कोई हित होने वाला नहीं है। नई कविता के सही मूल्यांकन के लिए हमें उसे अपनी सांस्कृतिक विरासत और समाज की बदलती हुई परिस्थिति की भूमिका में देखना अनिवार्य है।

: ४ :

प्रतीकवाद का नारा हाल ही में लगाया गया है परन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रतीकों की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन मानव-संस्कृति।

कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रतीक-पद्धति का प्रथम निदर्शन हमें मिश्र की प्राचीन चित्र-लिपियों (Hieroglyphics) में मिलता है।

धार्मिक एवं आध्यात्मिक साहित्य-सृष्टि अभिव्यक्ति की सरलता और प्रेषणीयता के लिए प्रतीकों का माध्यम अपनाया करती है। भारतीय संस्कृति एक धार्मिक संस्कृति रही है। यहाँ का साहित्य भी अपने उद्गम में सम्पूर्णतः धार्मिक है। इसलिए हिन्दी के धार्मिक साहित्य में प्रतीकों की भरमार है। भारतीय सन्त कवि आत्मद्रष्टा रहे हैं। आत्मद्रष्टाओं द्वारा अनुभूत सत्य सर्वसाधारण की समझ में तभी आ सकता है जब कि वह सीधे सरल प्रतीकों अथवा प्रतीकात्मक रूपकों द्वारा कह दिया जाय। साधकों और सन्त कवियों ने किया भी यही है। अपने आध्यात्मिक चिन्तन को सहजग्राह्य बनाने के लिए उन्होंने दैनिक जीवन से प्रतीक ग्रहण किये। दूध दुहना, हल चलाना, आखेट करना, मथना, कपास धुनना, मधुकरी माँगना, चर्खा कातना, वस्त्र बुनना आदि दैनिक चर्याओं और दाम्पत्य-प्रेम आदि जीवन के अन्य कार्य-व्यापारों के प्रतीकों द्वारा उन्होंने ऊँची-से-ऊँची और गहरी-से-गहरी बात कह दी है।

समाज तथा साहित्य के दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ प्रतीकों का महत्त्व और क्षेत्र भी घटता-बढ़ता रहता है। आज जब हिन्दी कविता चौराहे पर खड़ी है, माध्यम के रूप में प्रतीकों का मूल्यांकन करना एक निश्चित मानी रखता है। विदेशी 'प्रतीकवाद' को तिलांजलि देकर हम चाहेंगे कि अब तक हिन्दी में प्रतीक-विधान की जो निजी परम्परा रही है उसका संक्षेप में पर्या-

लोचन कर लें। इस दृष्टिकोण का प्रवर्तन डा० रामकुमार वर्मा और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल अपने सन्त-साहित्य विषयक अध्ययनों में कर चुके हैं। डा० सुधीन्द्र ने 'हिन्दी कविता में युगान्तर' में इसे चलते-चलते उठाया है और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'महाकवि सूरदास' में मननशील गम्भीरता के साथ इस ओर संकेत किया है। प्रतीक-विधान की परम्परा के ओर-छोर निरखने-परखने से सम्भवतः समर्थ समीक्षकों का ध्यान इस उपेक्षित दिशा की ओर चला जाय और नई कविता को प्रतीक-विधान-सम्बन्धी पक्ष में बल मिल जाय।

भारतीय प्रतीकों की परम्परा ऋग्वेद और अथर्ववेद से है। चर्यापदों, तन्त्र शास्त्रों, सिद्ध तथा जैन नीति-कथाओं, गोरखपन्थी बानियों एवं निर्गुण सन्त-कवियों के रूपकों में हमें इस पारिभाषिक अथवा प्रतीकात्मक शब्दावली की विशेष नियोजना मिलती है। एक ही प्रतीक अनेक धारा के कवियों द्वारा विभिन्न कालों में कभी समान और कभी विविध अर्थों में प्रयुक्त किये गए हैं और कहीं एक ही कवि में अनेक धाराओं के प्रतीकों का समाहार हो गया है। हिन्दी के अधिकांश भक्त-कवि यथार्थतः सारग्राही थे। उन्होंने सभी सम्प्रदायों, मतों एवं दर्शनों के सार और सत्य ग्रहण किया। इस सार-ग्रहण के साथ-ही-साथ उन्होंने इन विविध सम्प्रदायों की पारिभाषिक शब्दावली एवं प्रतीक-योजना भी अपना ली; और फिर उन प्रतीकों का उनके प्रचलित अर्थों में अथवा कभी अपने विशिष्ट साम्प्रदायिक अर्थों में प्रयोग किया। इस प्रकार शरीर-विज्ञान, हठयोग-पद्धति, दर्शन एवं वेदान्त साहित्य की शब्दावलियाँ इधर-से-उधर जाती रहीं। यही कारण है कि हठयोग के कुछ विशिष्ट प्रतीक हमें प्राचीन चर्यापदों से लेकर तन्त्र-शास्त्रों, सिद्धों तथा गोरखपन्थियों की बानियों, जैन धर्मावलम्बियों, निर्गुण सन्तों, जायसी जैसे सूफियों, सूर-जैसे भक्त कवियों और मीरा जैसी भक्त-साधिकाओं में प्राप्त होते हैं।

हमें चाहिए कि अपनी संस्कृति और साहित्य में घुले-मिले इन प्रतीकों के प्रयाण-क्षेत्रों, विराम-स्थलों एवं गन्तव्य प्रदेशों की भूमियों का निरीक्षण करें और पीछे छूट जाने वाले अथवा सतत साथ देने वाले प्रतीकों के पीछे छिपी जन-चेतना के परिवर्तनशील तथा स्थिर स्तरों को समाज की बदलती परिस्थितियों के आलोक में देखें। इस प्रकार देखने में यह भी स्पष्ट हो जायगा कि यूरोपीय अस्पष्टतावाद और हमारे सन्त-साहित्य की उल्टबाँसियों तथा अन्य दुरूह प्रतीकात्मक रूपकों की नियोजना में एक मौलिक भेद है। सन्त-कवियों ने अपने विशिष्ट सम्प्रदायों के दर्शन को चिरंजीवी और अक्षत बनाये रखने के लिए पारिभाषिक प्रतीकों की तालिकाएं बनाई थीं, धार्मिक जिज्ञासा जगाने के लिए अपने काव्य को 'नारिकेल फलं सदृशं' ऊपर से अभेद्य और भीतर से सरस बनाया था; प्रतीकवादियों की भाँति अस्पष्टता केवल अस्पष्टता के लिए ही नहीं लाई थी।

'अज्ञेय' ने 'अधिक बासन घिसने से मुलम्मा छूट जाने' की जो बात कही है वह रीतिकालीन घिसे-पिटे प्रतीकों पर पूरी तरह लागू होती है। संस्कृत के कुछ आचार्य 'अलंकार' एवं उक्ति-वैचित्र्य का जो सबक बहुत पहले सिखा गए थे रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने राज-दरबार में पोषित तोतों की तरह केवल उन्हें ही दुहराकर वाह-वाह लूटी। कालिदास और माघ जैसे सशक्त कलाकारों के प्रतीक-विधान-सम्बन्धी प्रयोग इस काल में रूढ़ि बन गए थे।

सन्तों के पारिभाषिक प्रतीकों और रीतियुगीन कवियों के रूढ़ उपमानों के अतिरिक्त अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक वे शैलीगत प्रतीक हैं जिनका सृजन साहित्य में व्यंजना के लिए होता रहा है

और जो साम्प्रदायिक प्रतीकों की भाँति न तो पूर्वमान्यताओं अथवा संस्कारों की अपेक्षा रखते हैं और न किसी बँधी-बँधाई परिपाटी के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। ऐसे प्रतीक स्वयंप्रभूत होकर कवियों की वैयक्तिक शैली को निखारते-सँवारते हैं। छायावादकालीन और छायावादोत्तर-कालीन प्रवृत्तियाँ ऐसे ही प्रतीकों के सृजन में सचेष्ट थीं और हैं। यद्यपि प्रतीकवादी नाटककार मैटरलिन्क से पन्त ने कुछ प्रभाव ग्रहण किये हैं, परन्तु प्रतीकों की योजना में उन्होंने वैयक्तिक शैली की ही प्रतिष्ठा की है।

आज जब कि यन्त्र-युग हमारे जीवन पर पूरी तरह छाता जा रहा है, 'प्रगतिवाद', 'प्रतीकवाद', 'बिम्बवाद', 'प्रकृतवाद', 'अस्तित्ववाद' एवं 'अतियथार्थवाद' के कम-अधिक, भले-बुरे मन्दच्छाय (shades) यूरोपीय और उससे सम्पर्क रखने वाले अन्य देशीय साहित्यों में मुखरता पाने के लिए सचेष्ट हैं। समाज की चेतनाएँ बदली हैं, विचारकोण बदले हैं, साहित्य की विषय-वस्तु बदली है, उसके शैली-शिल्प में अधिक निखार लाने की प्रवृत्तियाँ उभार पर हैं। विषय-वस्तु के परिवर्तन के साथ प्रतीकों में परिवर्तन स्वाभाविक हैं। कवि अपने प्रतीक अपने आसपास के वातावरण से ग्रहण करता है। आज का वातावरण ही नहीं बदला है हमारा समग्र दृष्टिकोण भी बदलता जा रहा है। ऐसे अवसर पर हमारी नई कविता परम्परागत घिसे पिटे प्रतीकों के बल पर खड़ी नहीं हो सकती। हमें अपनी नई उद्भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए नये माध्यम ढूँढ़ना है, नई प्रतीक-नियोजना करना है। परन्तु यह नियोजन एक पूर्व-निश्चित योजना के आधार पर नहीं होना चाहिए और न हमें अपनी सांस्कृतिक पद्धतियों से अलग जाकर, अटपटे, अनगढ़ प्रतीकों की अवतारणा ही करनी चाहिए। हमें चाहिए कि हम या तो अपने आसपास के वातावरण से प्रतीकों को उठाएँ या फिर विस्मृति के गर्त में डूबे प्राचीन सांस्कृतिक प्रतीकों की प्राणवन्त नियोजना करें। दोनों ही रूपों में प्रतीक अभिव्यक्ति को स्वाभाविक बनाएँ, कृत्रिम नहीं; और न इन प्रतीकों की आड़ में हम विषाक्त मनोवृत्तियों की अभिव्यक्त करने के चेष्टा ही करें।

अन्यतम शैली-शिल्प और अभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रेषणीयता में सामंजस्य रखते हुए धर्मवीर भारती ने, सांस्कृतिक परम्परा के एक अछूते प्रतीक के माध्यम से, नीचे समग्रतः उद्धृत कविता में, जो-कुछ कहा है वह जन-चेतना का वाहक है, अप्रगतिशील नहीं; हिन्दी की निजी धारा का नियामक है, अनुकृति नहीं—

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ!
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्र-व्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय···
बड़े-बड़े महारथी
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
अकेली निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें!

तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में रक्षा की ढाल बन सकता हूँ।
मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्योंकि इतिहासों की सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने सच्चाई टूटे हुए पहियों में
आश्रय ले !